भारत-निर्माता

भारतीय संस्कृति और राष्ट्र के निर्माण में योग देनेवाले
प्रतिनिधि महामानवों की गौरव-प्रशस्ति

[आधुनिक युग]

लेखक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

सम्पादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

"भारत सरकार की ओर से भेंट"

हिन्दी विश्व-भारती ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की प्रमुख प्रकाशन-संस्था

५१, गुईन रोड, लखनऊ

प्रकाशक

हृदयेश्वर प्रसाद

हिन्दी विश्व-भारती

५१, गुईन रोड,

लखनऊ

चित्रकार

पन्नालाल

जुलाई, १९६३

मूल्य

रुपए ५·२५

मुद्रक

कामेश्वर दयाल

मुद्रण-कला-मदिर

५१, गुईन रोड,

लखनऊ

विषयानुक्रम

उसके पृष्ठों पर अंकित है एक शक्तिशाली विदेशी शासनतंत्र के साथ निहत्थी और शोषित जनता के एक ऐसे अनोखे अहिंसक संग्राम की अमर गाथा, जिसने मानव इतिहास में एक नवीन सर्ग, एक नई पगडण्डी का निर्माण किया है। कांग्रेस को इस देश के जर्जरीभूत कलेवर में फिर से नूतन प्राणों के संचार की एक आशा-भरी कहानी—हमारे राजनीतिक पुनरुज्जीवन और पुनर्निर्माण के एक उल्लासमय आलेख—की रचना करने का श्रेय प्राप्त है। भला कौन ऐसा राष्ट्रीयता का उपासक भारतवासी होगा, जिसे अपनो इस प्रतिनिधि संस्था की विगत सेवाओं का महत्त्व और मूल्य समझाने की भी आवश्यकता हो? वस्तुतः जिसके साथ यह अपनी लड़ाई लड़ती रही, उस विदेशी सत्ता ने भी तो इसकी महत्ता स्वीकार कर निर्विवाद रूप से इसे देश की प्रतिनिधि राजनीतिक संस्था करार दिया था।

यथार्थ में, यह केवल एक राजनीतिक संस्था ही नहीं, बल्कि हमारी एक सर्वतोमुखी राष्ट्रवेदी रही है। यह इस देश के सर्वाङ्गीण उत्थान का जीवन-व्रत लेनेवाले जनसेवकों को तैयार करनेवाला एक महान् शिक्षा-शिविर रहा है। क्या यह कम महत्त्व की बात है कि इस युग में जितने भी राष्ट्रनेता इस देश में पैदा हुए, उनमें से नब्बे प्रतिशत कांग्रेस ही के मंच पर से सामने आए हैं—उसकी ही विशद राष्ट्रवेदी पर उन सबका उद्भव, शिक्षण और विकास हुआ है? तो फिर आइए, प्रस्तुत और आगे के कुछ प्रकरणों में अपनी इस महान् राष्ट्रवादी जन-संस्था के आधार-स्तभ-रूपी कुछ चुने हुए अन्यतम राष्ट्रनायकों के व्यक्तित्व और जीवनवृत्त पर प्रकाश डालकर, उसके प्रति अपने अगाध राष्ट्रीय ऋण का कुछ अंश चुकाने का प्रयास करें, यद्यपि इन थोड़े से पृष्ठों में न तो इस राष्ट्रवेदी के व्यापक अनुष्ठान का ही पूरा व्योरा देना, न उन सब वंदनीय नेताओं में से प्रत्येक

दादाभाई नौरोजी

और आधुनिक राष्ट्रीय जागरण के अन्य अग्रदूत

२८ दिसम्बर, सन् १८८५ ई०, का दिन भारतीय इतिहास में एक चिरस्मरणीय दिवस के रूप में सदैव याद किया जायगा, क्योंकि इसी दिन आज से तिहत्तर वर्ष पूर्व उस राष्ट्रीय संस्था—कांग्रेस—का जन्म हुआ था, जिसे इस युग में उठने और जागने की हमारी साध का मूर्तिमान् प्रतीक बनने का गौरव प्राप्त हुआ। कांग्रेस का इतिहास पिछली लगभग पौन शताब्दी के हमारे राजनीतिक जागरण का बृहत् इतिहास है।

का सुविस्तृत रूप से अलग-अलग जीवन-परिचय दे पाना ही संभव है, जिन्होंने कि एक-एक ईंट चुनकर उसे क्रमशः ऊपर उठाया है।

'आधुनिक भीष्म पितामह'

पिछले सौ साल में जो लोकनायक राजनीतिक उत्थान का मंत्र लेकर पहले-पहल इस देश के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे, उनमें न केवल तिथिक्रम के नाते ही प्रत्युत व्यक्तित्व और महानता की दृष्टि से भी निस्सदेह हमारा ध्यान सबसे पहले स्वनामधन्य दादाभाई नौरोजी की ओर ही जाता है, जिन्हें हम अपने 'आधुनिक भीष्म पितामह' के नाम से पूजते और याद करते हैं! दादाभाई कांग्रेस की उपज नहीं, बल्कि उसके जन्मदाताओं में से थे। वह तो कांग्रेस की प्रस्थापना के पूर्व ही अपने जीवन के चालीस वर्ष लोकसेवा और सार्वजनिक उत्थान के कार्य में उत्सर्ग कर चुके थे! इस दीर्घजीवी राष्ट्रनायक ने पूरे इकसठ वर्ष तक हमारे राजनीतिक संग्राम के मोर्चे पर डटे रहकर हमारी सुषुप्त चेतनाओं को जगाने में अग्रिम रूप से भाग लिया। उसने ही पहले-पहल 'स्वराज्य' की प्राप्ति का ध्रुव लक्ष्य उद्घोषित कर हमारे भावी यात्रापथ की लीक प्रस्थापित की। कांग्रेस को केवल शासन-सुधार के लिए प्रयास करनेवाली एक अर्द्धसरकारी सभा से राष्ट्रीय आकांक्षाओं की सिद्धि के एक सच्चे रंगमंच में परिणत करने में भी उसने महत्त्वपूर्ण योग दिया! कांग्रेस के इतिहासकार डा० पट्टाभि सीतारामैया के शब्दों में, 'जो केवल भारत के उत्थान के लिए ही जिया और उसी की मुक्ति के निमत्त अविश्रान्त रूप से परिश्रम करता रहा, जिसने देश के लिए कभी अपनी लेखनी को विश्राम न दिया और विधाता ने जिसे अपने कार्य की पूर्ति के लिए पच्चासी वर्ष से भी अधिक आयुष्य दी, उस महापुरुष दादाभाई की अन्यतम देशसेवाओं की समुचित गणना इन परिमित पंक्तियों में कर पाना कठिन है!'

'उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे महान् देशभक्त'

स्व० श्री चिन्तामणि के मत में दादाभाई 'उन्नीसवीं शताब्दी के हमारे सबसे महान् देशभक्त थे।' महामान्य गोखले की तो यहाँ तक की धारणा थी कि 'यदि मनुष्य में देवत्व का अंश कभी उद्भासित हुआ हो, तो वह था दादाभाई में!' उनकी महानता और देश के कल्याण के लिए उनके हृदय में अनवरत धधकती रहनेवाली प्रखर ज्वाला का बहुत-कुछ अनुमान हम उनके निम्न ज्वलन्त शब्दों द्वारा कर सकते हैं, जो उन्होंने सन् १९०६ ई० में कलकत्ता के कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति-पद से कहे थे—'एक हो जाओ और दृढ़तापूर्वक स्वराज्य-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहो! ताकि उन लाखों प्राणियों की रक्षा हो, जो आज दरिद्रता, दुर्भिक्ष और महामारी की भेंट हो रहे हैं; उन करोड़ों को रोटी मिले, जो पेटभर अन्न भी नसीब न होने के कारण भूखों मर रहे हैं, और भारत एक बार फिर संसार के सर्वश्रेष्ठ सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बैठकर अपने प्राचीन गौरव और अभिमान का पद प्राप्त कर सके!'

लगभग आधी शताब्दी का समय बीत जाने पर भी उस राष्ट्रनायक के ये ओजपूर्ण महावाक्य हमारी राष्ट्रीय वस्तुस्थिति के गंभीरतम सत्य पर प्रकाश डालते हुए आज भी कितने खरे प्रतीत हो रहे हैं! आज 'स्वराज्य' प्राप्त हो जाने पर भी कितने सार्थकतापूर्वक हमारे वास्तविक लक्ष्य की उद्घोषणा करते हुए वे हमें अपने सामयिक कर्त्तव्यों को पहचानने का आदेश दे रहे हैं!

शिक्षा-दीक्षा और आरम्भिक सेवाएँ

दादाभाई का जन्म ४ सितम्बर, सन् १८२५ ई०, के दिन आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व बंबई में हुआ था। जैसा कि उनके नाम से स्पष्टतया प्रकट है, वह उस प्रख्यात पारसी जाति के रत्न थे, जिसने जनसंख्या की दृष्टि से नगण्य होने पर भी इस युग में हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढ़ानेवाली न जाने कितनी विभूतियाँ भेंट करने का श्रेय प्राप्त किया है। कहते हैं, जब वह चार साल ही के थे, तभी उनके पिता इस लोक से चल बसे थे। फिर भी उनकी शिक्षा-दीक्षा में इस अभाव के कारण कोई त्रुटि न रहने पाई। इसका सारा श्रेय था उनकी आदर्श माता को, जिसने बड़ी लगन के साथ उन्हें पढ़ाया-लिखाया और उस महानता का उनमें बीजारोपण किया, जो आगे चलकर उनके चरित्र में इतने प्रखर रूप से प्रकाशित हुई! उनकी शिक्षा सुप्रसिद्ध एलफिन्स्टन कॉलेज में हुई, जो उन दिनों 'एलफिन्स्टन इंस्टीट्यूशन' के नाम से पुकारा जाता था। कालान्तर में वहीं असिस्टेण्ट हेड-

मास्टर के पद पर नियुक्त होकर वह पहले तो गणित के और बाद में प्रकृति-विज्ञान विषय के सीनियर प्रोफेसर हो गए। इन्हीं दिनों उनके अंतस्तल में उमड़ती हुई देशसेवा की नैसर्गिक भावना ने, विविध लोकहितमूलक सार्वजनिक कार्यों में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए, पहले-पहल अपना रूप प्रकट करना शुरू किया। इसका सर्वप्रथम परिचय उन्होंने दिया 'स्टूडेंण्ट्स लिटररी एण्ड सायण्टिफिक सोसायटी' नामक एक विद्यार्थी-हितकारी साहित्यिक और वैज्ञानिक गोष्ठी की नींव डालकर। उसी के तत्त्वावधान में शीघ्र ही एक मासिक पत्रिका भी वह निकालने लगे। तदनतर उसी की गुजराती और मराठी प्रतिरूपवत् 'ज्ञान-प्रसारक मंडली' नामक एक और संस्था को जन्म देकर, उन्होंने मातृभाषा में विचार-विनिमय की प्रवृत्ति जगाने की ओर भी अपना हाथ लगाया। यही नहीं, शहर के विविध भागों में कई सार्वजनिक महिला-शिक्षण-केन्द्र खोलकर, अवकाश के समय में वहाँ जाकर अवैतनिक रूप से पढ़ाने का सेवाकार्य भी उन्होंने आरम्भ किया।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बंबई में स्त्री-शिक्षा का आरभ करने का सारा श्रेय पूज्य दादाभाई ही को है। उन्ही के उद्योग के फलस्वरूप वहाँ की पहली कन्या-पाठशाला खुली थी! बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि 'बंबई-एसोसिएशन', 'फ्रामजी-इंस्टीट्यूट', 'पारसी-जिमखाना', 'ईरानी फंड,' 'विधवा-विवाह-सहायक संघ', 'विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम', आदि-आदि विविध आरंभिक जनसंस्थाओं के निर्माण में प्रमुख रूप से हाथ बँटाकर, उन्होंने ही उस नगर के लोक-जीवन में यथार्थ सार्वजनिक सेवा की पहले-पहल नींव डाली थी! इन्हीं दिनों 'रास गोफ्तार' (सत्यवादी) नामक एक गुजराती साप्ताहिक पत्र भी अपने संपादकत्व में उन्होंने निकाला था। इस पत्र द्वारा नौरोजी फरदूनजी, जे० बी० वाचा, सोराबजी शापुरजी बंगाली आदि समसामयिक पारसी सुधारकों के साथ मिलकर वह जोरों के साथ अपने प्रान्त में समाज-सुधार एवं जनजागृति में बढ़ावा देनेवाले नवीन विचारों का प्रचार करने लगे थे।

विलायत-यात्रा और राजनीतिक चेतना

किन्तु अभी तक उनका कार्यक्षेत्र वस्तुतः समाज-संस्कार ही के क्षेत्र तक सीमित था। उन्होंने इस समय तक राजनीति की ओर विशेष रूप से अपना हाथ नहीं बढ़ाया था। तब १८५५ ई० में 'कामा एण्ड कंपनी' नामक एक व्यापारिक संस्था के साझीदार की हैसियत से, उसकी लदन-स्थित शाखा के संचालन के लिए, इंगलैण्ड जाने का मौका पाकर, उन्होंने अपने उस प्रोफेसर के पद से त्यागपत्र दे दिया। इस नए कदम के साथ ही उनके सार्वजनिक जीवन में भी मानो एक नया अध्याय आरंभ हो गया। वह जैसे ही विलायत की भूमि पर उतरे, वैसे ही राजनीतिक स्वच्छन्दता के वातावरण में वैभव और समृद्धि के मारे फूले न समा रहे उस छोटे-से देश के साथ अपनी मातृभूमि के कलेवर में व्याप्त घोर दरिद्रता और परतंत्रता की तुलना करके एवं उसके विरोधाभास का अनुभव कर एकबारगी ही चौक-से उठे। उसी क्षण उनके मन में अपनी जन्मभूमि के उद्धार की एक जबर्दस्त हूक-सी जग उठी, जो समय बीतते अधिकाधिक प्रबल ही होती गई, कभी भी दब न पाई।

मूल समस्या :: राजनीतिक दासता

उन्हें अब रात-दिन यही एक चिन्ता लगी रहने लगी कि किस प्रकार इस दिल दहला देनेवाली गरीबी और असहायता की शोचनीय दशा से इस महादेश को उबारा जाय! क्योंकर इस आर्थिक दासता के प्राणहारी चगुल से छुटकारा पाकर भारत पुनः अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ हो? किन्तु जब इसी प्रकार विचार-मंथन करते-करते, गहराई के साथ इस आर्थिक समस्या की तह में पैठकर, उन्होने उसके मूल कारणों का अनुसधान करना शुरू किया, तो यह जानते उन्हें देर न लगी कि वस्तुतः यह समस्या तो केवल एक ऊपरी और गौण समस्या है। हमारी प्रधान समस्या तो है वह घोर राजनीतिक दासता, जिस पर कि हमारी अन्य सभी समस्याएँ आश्रित और निर्भर हैं! यही समस्या हमारे दुःख-दैन्य का मूल कारण है—उसी के समाधान पर हमारे सभी प्रश्नों का निराकरण अवलंबित है। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीति के भी आँगन की ओर अब उनके पैर अपने आप ही तेजी के साथ एकबारगी ही बढ़ चले!

लेकिन उनके इस राजनीति-प्रवेश की कहानी को दोहराते समय हमें विशेषतया यह बात न भूल

जाना चाहिए कि यह उस जमाने की बात हम कह रहे हैं, जबकि राजनीति के नाम पर हमारे शिक्षित वर्ग में किसी प्रकार की उग्र चेतना के जाग्रत होने की बात तो दूर रही, वस्तुतः उसका ककहरा भी अभी उसके कानों तक ठीक से नही पहुँच पाया था ! यह हम उन दिनों की बात कह रहे है, जबकि कांग्रेस की प्रस्थापना के समय में अभी लगभग तीस वर्ष बाकी थे ! जबकि तिलक, गोखले, मालवीय और गांधीजी का जन्म तक नही हुआ था और सुरेन्द्रनाथ तथा फीरोजशाह अभी निरे आठ-दस वर्ष के बालक ही थे !

अतएव दादाभाई की उस आरंभिक राजनीति में यदि हमें बाद की उग्रता और निर्भीकता के बजाय फूंक-फूँककर कदम रखने तथा ब्रिटिश न्याय और उदारता की दुहाई देते हुए केवल वैधानिकता की पगडंडी द्वारा शासन-तंत्र में आवश्यक सुधार मात्र कराने की ध्वनि सुनाई पड़े, तो इससे हमें एकबारगी ही चौंक न उठना चाहिए। वस्तुतः परिस्थिति और वातावरण को देखते हुए उनके लिए उन दिनों केवल इसी हद तक ही बढ़ना स्वाभाविक था। उन्होंने क्रान्ति का नही, प्रत्युत शान्ति का मार्ग अपनाया था और सिवाय इसके उन दिनों उनके लिए दूसरा कोई चारा भी तो न था।

हाँ, देश में और भी एक धारा भीतर ही भीतर इन्ही दिनों गुप्त रूप से उमड़ने लगी थी, जो कि वर्ष दो वर्ष बाद ही सन् सत्तावन की महान् क्रान्ति के रूप में अपना प्रलयंकर स्वरूप प्रकट करने में समर्थ हुई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश उनका उससे न तो कोई संपर्क ही था, और सच कहा जाय तो अपनी विशेष प्रकार की शिक्षा-दीक्षा के कारण उनमें उस महान् विस्फोट का साथ देने की कोई तैयारी भी न थी।

राष्ट्रीय चेतना का अग्रदूत :: युद्ध-सेनानी नहीं

जो कुछ भी हो, हमें इस महापुरुष द्वारा अपनाए गए रास्ते को बाद के बढ़े-चढ़े राजनीतिक मानदण्ड द्वारा नहीं, प्रत्युत उमके अपने जमाने की वस्तुस्थिति से ही नापकर परखना चाहिए। साथ ही हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसके बाद आनेवाले हमारे अन्य प्रारंभिक नेता भी लगभग पचास वर्ष तक उसी प्रकार की नरम नीति को ही लेकर चलते रहे, जैसी कि उसने पहले-पहल अपनायी थी। वस्तुतः दादाभाई ही क्या हमारे सभी आरंभिक राष्ट्रनायकों का मुख्य काम था अपने भावी महान् संग्राम के लिए एक राजनीतिक चेतना से सुसज्जित कर पहले हमें मोर्चा बाँधने के योग्य बनाना—हमें युद्ध के लिए तैयार करना—न कि एकबारगी ही बिना तैयारी के अन्तिम लक्ष्य पर धावा बोल देना। इस कार्य को जिस खूबी के साथ उन्होंने पूरा कर दिखाया, उसी में उनकी महानता का तत्त्व निहित था ! वह हमारी राष्ट्रीयता को जगानेवाले अग्रदूत थे, युद्ध-सेनापति नहीं ! (यह कार्य तो गांधी, पटेल, जवाहर, सुभाष आदि भावी महान् सेनानियों के लिए ही सुरक्षित था।) इसी रूप में याद करते हुए उनकी आरती उतारना यथार्थतः समुचित और न्यायसंगत होगा !

इंगलैण्ड में प्रचार-कार्य

चूंकि परिस्थितियों ने दादाभाई को एक लम्बी अवधि तक स्वदेश से दूर विलायत ही में अपना डेरा-तम्बू गाड़कर रहने को विवश किया था, अतएव उनके राजनीतिक जीवन का प्रधान कार्य-केन्द्र भी अधिकांश में वही रहा। वहीं उन्होंने अपना पहला मोर्चा बाँधा। उन्होंने इंगलैण्ड में पैर जमाते ही 'लंदन इंडियन सोसायटी' और 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' नामक दो महत्त्वपूर्ण सस्थाओं को जन्म दिया। इन सस्थाओं द्वारा भारत की समस्याओं को प्रकाश में लाने तथा ब्रिटिश जनता की सद्भावनाओं को इस देश के प्रति आकृष्ट करने के लिए एक सार्वजनिक मंच तैयार करने में उन्हें महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। इस कार्य में साथ देने के लिए सर्वश्री उमेशचन्द्र बेनर्जी, मनमोहन घोष, फीरोजशाह मेहता आदि कई प्रतिभाशाली उत्साही भारतीय युवकों की एक बढिया टोली उन्हें मिल गई थी। ये युवक अपनी पढ़ाई आदि के सिलसिले में उन दिनों इगलैण्ड में आए हुए थे।

उपर्युक्त संस्थाओं के मंच पर से भाषणों, ट्रैक्टों, लेखों आदि की एकबारगी ही बौछार-सी आरम्भ कर, वस्तुस्थिति के यथार्थ चित्रण द्वारा, उन्होंने भारत के विषय में पूर्ण अंधकार में लिप्त ब्रिटिश जनहृदय को यहाँ की सही-सही जानकारी कराने तथा यहाँ की भीषण दरिद्रता, अशिक्षा और जनता के प्रति नौकरशाही की अनवरत उपेक्षा की ओर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों एवं पार्लामेण्ट की आँखें खोलने का महान् प्रयास आरंभ किया। इस सिलसिले में शीघ्र

ही सारे इंगलैण्ड का दौरा कर स्थान-स्थान में उन्होंने अपने भाषणों की धूम-सी बाँध दी। साथ ही पत्र-पत्रिकाओं में भी विवेचनात्मक लेखों की एक झड़ी-सी उन्होंने लगा दी ! इस प्रकार अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिए एक जोरदार आन्दोलन उस सुदूर विदेश में उन्होने खड़ा कर दिया ! वह लगातार तेरह-चौदह वर्ष तक एक असीम उत्साह और लगन के साथ प्रचार का अपना यह महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के प्रति न केवल ब्रिटेन के अनेक सहृदय स्वातत्र्यप्रेमी उदार व्यक्तियों की हार्दिक समवेदना उन्होंने प्राप्त कर ली, बल्कि राजनीतिक उत्थान के लिए जोरों के साथ शखनाद कर, साथ-ही-साथ अपने देशवासियों को भी सामयिक कर्त्तव्यों को पहचानने तथा मातृभूमि का बन्धन छुड़ाने के लिए आगे बढ़ने की एक सशक्त प्रेरणा उन्होंने उन आरंभ के दिनों में दी !

फलतः जब सन् १८६९ ई० में अपनी व्यावसायिक स्थिति में कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाने के कारण, कुछ समय के लिए वह वापस स्वदेश आए, तो इस भूमि पर उतरते ही उनके स्वागत में स्वदेश का जनहृदय उमड़ पड़ा और वह हमारे हृदय के हार बन गए। उनकी महान् सेवाओ के लिए आभार-प्रदर्शन के रूप में तीस हजार रुपए की एक थैली जनता की ओर से उन्हें भेट की गई, जिसकी कौड़ी-कौड़ी उन्होंने पुनः देश के सेवा-कार्य में ही लगा दी। साथ ही महामान्य महादेव गोविन्द रानड़े के हाथों बंबई के प्रसिद्ध फ्रामजी कोवासजी इंस्टीट्यूट में उनका एक चित्र भी उद्घाटित करके एक महान् राष्ट्रनायक के रूप में उन्हे सम्मान प्रदान किया गया।

'भारत की गरीबी'

इसके शीघ्र ही बाद भारतीय अर्थ-नीति के संबध में ब्रिटिश पार्लामेंट द्वारा नियुक्त 'फॉसेट कमेटी' नामक एक जांच-समिति के आगे गवाही देने के लिए वह कुछ महीनों के लिए फिर विलायत गए। उस समय जो महत्त्वपूर्ण बयान उन्होने दिया, उसमे इस देश की घोर गरीबी के साथ विदेशी शासन द्वारा लादे गए भारी करों तथा व्यर्थ के खर्चों के पहाड-जैसे बोझ के वैषम्य का ऑकड़ों-सहित एक सजीव चित्र खीच-कर उन्होंने ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो को एकदम हक्का-बक्का कर दिया ! उन्होंने अपने गहन अध्ययन के बल पर यह साबित कर दिखाया कि इस देश की औसत सालाना आमदनी प्रति व्यक्ति २०) रु० से अधिक नही है, अर्थात् प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हिस्से में औसत केवल साढे तीन पैसे रोज ही आते है ! फिर भी उसमें से ३) रु० वार्षिक अर्थात् १५ प्रतिशत हिस्सा करो के रूप में विदेशी सरकार खीच लेती है !

इस प्रकार अपनी शोषण-नीति की पोल खुलते देखकर गोरी नौकरशाही के हिमायती एकबारगी ही बौखलाकर उन पर टूट-से पड़े, जिससे कि दादाभाई का उनके साथ एक प्रचण्ड वाक्युद्ध छिड गया ! पर दादाभाई इस तरह मात खा जानेवाले जीव न थे। उन्होने शीघ्र ही 'भारत की गरीबी' शीर्षक एक पुस्तिका निकालकर सूक्ष्म आकड़ों-सहित बारीकी के साथ इस समस्या का विश्लेषण करते हुए ब्रिटिश शासन-तंत्र की बुराइयो का पूरी तरह भडाफोड़ कर दिया। उनकी इन प्रकाण्ड प्रस्थापनाओं का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि निकट भविष्य ही में ब्रिटिश विचारकों को इस देश की भयानक दरिद्रता का सत्य स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा !

वस्तुतः इस समस्या को लेकर हमारे आर्थिक अध्ययन के क्षेत्र में पूज्य दादाभाई ने आज से पच्चासी वर्ष पहले जो प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की थी, वे कालान्तर मे इस विषय के समस्त भावी अनु-संधान और परिगणना की मानो एक आधार-शिला-सी बन गईं। उनमें आज भी भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को अध्ययन की बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री मिल सकती है। इस प्रकार यह वृद्ध राष्ट्रनायक न केवल इस देश की आधुनिक राजनीति के पहले सक्रिय अग्रदूत ही के रूप में, प्रत्युत अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में भी पहला मोर्चा बाँधनेवाले एक महारथी के रूप में सामने आया, जिसके लिए युग-युग तक हमारे इतिहास में उसकी वंदना की जाती रहेगी।

स्वदेश-वापसी

१८७४ ई० में स्वदेश वापस आने पर लगभग दो वर्ष तक उन्होंने बड़ौदा-राज्य की दीवानगिरी का पद सँभाला। तदुपरान्त तत्कालीन वायसराय लिटन की प्रतिगामी दमन-नीति से खिन्न होकर बहुत दिनों तक दादाभाई सक्रिय राजनीति से अलग हट गए और

एक प्रकार का विश्रान्ति का ही जीवन व्यतीत करते रहे। केवल बंबई के म्युनिसिपल कारपोरेशन के मदस्य के नाते अपने नगर की उन्नति के प्रयासों में इस बीच वह यथासाध्य योग अवश्य देते रहे।

कांग्रेस की स्थापना

परन्तु इस समय नक कुछ तो देश-काल के परिवर्तन के अनुसार होनेवाली नैसर्गिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप और कुछ उनके ही जैसे अन्य अनेक उदीयमान राष्ट्रकर्मियों के आरम्भिक प्रयासों के प्रभाव से, तत्कालीन भारतीय शिक्षित समाज में भीतर ही भीतर राजनीतिक उत्थान और जागृति की एक प्रबल लहर उद्वेलित होने लगी थी। फलतः अनेक सच्चे देश-भक्तों के मन में जोरों के साथ इस बात की कामना उठने लगी थी कि किसी न किसी प्रकार देश की विखरी हुई राजनीतिक भावनाओं को समेट-कर एक ऐसे मच की नीव डाली जाय, जिस पर कि इकट्ठे होकर एवं एक ही जगह मिल-जुलकर सारे देश के हित की बात सोची-विचारी जा सके! इसी भावना ने अंत में १८८५ ई० के अंतिम दिनों में उस महान् जनसंस्था कांग्रेस को जन्म दिया, जो कि आगे चलकर इस देश के मुक्ति-सग्राम का बीडा उठानेवाली एक महान् राष्ट्रवेदी बन गई!

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यद्यपि इस महान् संस्था की नीव डालने का मुख्य श्रेय श्री एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम नामक एक अवसरप्राप्त अंग्रेज सिविलियन को ही दिया जाता है, तथापि हमारे चरितनायक दादाभाई का भी उसे स्थूल रूप प्रदान करने में कोई कम महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं था। उन्होंने बंबई के प्रसिद्ध गोकुलदास तेज-पाल संस्कृत कॉलेज के भवन में २८ दिसंबर, सन् १८८५ ई०, के दिन होनेवाले इस महासभा के प्रथम ऐतिहासिक अधिवेशन में पूरे उत्साह के साथ भाग लिया था। और अगले वर्ष के कलकत्ता-अधिवेशन में तो उन्ही को उसके अध्यक्ष का आसन ग्रहण करना पड़ा था!

यहाँ हमारा प्रयोजन कांग्रेस के इतिहास और उसके विकासक्रम की रूपरेखा को दोहराने का नही है। फिर भी जानकारी के लिए उन विशिष्ट व्यक्तियों के नामों को गिनाना अप्रासंगिक न होगा, जिन्होंने कि उसकी ऊपर उल्लिखित प्रथम महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेकर हमारी राष्ट्रीयता की नींव डालने के कार्य में हाथ बँटाया था। ये महापुरुष थे—सर्वश्री उमेशचन्द्र बेनर्जी (प्रथम अधिवेशन के सभापति), दादाभाई नौरोजी, एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, आर० रघुनाथराव, महादेव गोविन्द रानडे, पी० आनन्द चार्लू, बहरामजी मलाबारी, नारायण गणेश चन्दावरकर, गंगाप्रसाद वर्मा, दिनशा वाचा, फिरोजशाह मेहता, गोपाल गणेश आगर-कर, पी० रंगैया नायडू, लाला बैजनाथ, एम० वी० राघवाचार्य, केशव पिल्लै, नरेन्द्रनाथ सेन, और ऑक्टेवियन ह्यूम।

ब्रिटिश उदारता और न्याय की दुहाई

साथ ही इस बात को भी व्यक्त कर देना असंगत न होगा कि अपने जन्म के साथ ही कांग्रेस बाद की तरह कोई उग्र क्रान्तिकारी कार्यक्रम लेकर सामने नही आई थी। उसका इस दिशा में विकास तो बहुत धीरे-धीरे और काफी आगे चलकर ही हुआ। पहले तो विशेष रूप से शासन-सत्ता के सहयोग ही की डोर पकड़कर वह चली थी। यही कारण था कि आरम्भिक दिनों में अनेक सरकारी कर्मचारियों—यहाँ तक कि गवर्नरों और वायसरायों तक—का सह-योग उसे प्राप्त हुआ था! उन दिनों उसका दृष्टि-कोण हमारे पिछले दिनों के लिबरल नेताओं का-सा ही था। प्रायः ब्रिटिश न्याय और उदारता की दुहाई दी जाती थी और इंगलैण्ड में स्थित पार्लमेंट के आगे अपील-विनती कर आवेदन-निवेदन द्वारा ही राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति करने के स्वप्न देखे जाते थे। इस मृगमरीचिका में कांग्रेस बहुत लम्बे अरसे तक उलझी रही।

दादाभाई भी अपने अन्य अनेक समकालीन नेताओं की भाँति स्वभावतः इस प्रवृत्ति से मुक्त न रहे। उनके भी मन में अन्य अनेक आरम्भिक नेताओं की भाँति ब्रिटिश न्याय और प्रजासत्तावादिता के प्रति एक अनन्य श्रद्धा और विश्वास का भाव समाया हुआ था। वह यही मानते थे कि भारत के दुःख-दैन्य का कारण केवल स्थानीय नौकरशाही की वे बुराइयाँ ही हैं, जिनके कारण इस देश की स्थिति विगड़ते जाने में सहायता मिल रही है। वह ब्रिटिश पार्लमेंट को इसके लिए दोषी करार नहीं देते थे। उनकी तो धारणा थी कि भारत की यह दीनावस्था बहुत-कुछ केवल इसीलिए है कि

ब्रिटिश जनता और पार्लमेंट दोनों ही इस देश की वस्तुस्थिति के बारे में एकदम अधकार में है। उन लोगों को यहाँ की घोर गरीबी और अधगोरी नौकर-शाही द्वारा उसकी निरंतर अवहेलना के संबध में कुछ भी जानकारी नही है। किन्तु यदि सही रीति से उन्हें इस देश की वास्तविक दशा का ज्ञान कराकर सुधार की माँग की जाय, तो ब्रिटिश चरित्र की जन्मजात उदारता को देखते हुए हमें अपने निजी गृह-प्रबंध के कार्य में पूरा हिस्सा बँटाने का अधिकार मिलने मे कठिनाई न होगी! और इसी युक्ति के आधार पर वह कहा करते थे कि भारत के उद्धार के लिए यहाँ से भी अधिक जोरों के साथ विलायत मे आन्दोलन मचाना आवश्यक है। वह इंगलैण्ड को अपना प्रधान युद्ध-क्षेत्र मानते थे और अब तो पार्लमेण्ट तक में प्रविष्ट होकर वहाँ अपना मोर्चा बाँधने की तैयारी में वह लगे थे!

ब्रिटिश पार्लमेण्ट में

अतः कुछ दिनों तक अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य के रूप में देश के सेवा-कार्य मे भाग लेने के बाद, सन् १८८६ ई० मे अर्थात् कांग्रेस की प्रस्थापना के कुछ ही महीने उपरान्त, वह पुनः विलायत जा पहुँचे और इस बार सचमुच ही पार्लमेण्ट की मेम्बरी के लिए खड़े होकर वहाँ के चुनाव के अखाड़े मे खम ठोककर वह उतर पडे। यद्यपि पहली बार के इस प्रयास मे विजय का सेहरा उन्हे प्राप्त न हो सका, फिर भी अपने प्रतिस्पर्द्धी उम्मीदवार के ३६५१ वोटो के मुकाबले में १९५० वोट पाने में वह सफल रहे, जो कि उन जैसे परदेशी व्यक्ति के लिए कोई मामूली बात न थी! इसी बीच कलकत्ता-काग्रेस के सभापतित्व के लिए कुछ महीनो के लिए उन्हें वापस स्वदेश आना पड़ा। पर शीघ्र ही वह पुनः इगलैण्ड लौट गए और लगभग पाँच वर्ष तक निरंतर उद्योग करके अपने पक्ष में उपयुक्त वातावरण पैदा कर, अंत में सन् १८९२ ई० में वह पुनः चुनाव मे खड़े हुए और गौरव के साथ पार्लमेण्ट में प्रविष्ट होने में सफलीभूत हो गए!

अब क्या पूछना था—सारा भारत उनकी इस असाधारण विजय से फूला न समाया। दूसरे ही वर्ष लाहौर के अधिवेशन में पुनः कांग्रेस के सभापति का आसन प्रदान कर अपने इस महान् सपूत के प्रति उसने अपना गर्वयुक्त सम्मान का भाव प्रकट किया! कहते है, जब इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए दादाभाई विलायत से स्वदेश वापस आए थे, तो बंबई से लाहौर तक रास्ते भर उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया था। लाहौर पहुँचने पर तो लोगो ने स्वयं अपने हाथों उनकी गाड़ी खीचकर उनका जुलूस निकाला था! उनके इस अद्वितीय सत्कार का उल्लेख करते हुए सर विलियम हंटर ने लिखा था कि एकाध मौके के अलावा शायद ही कभी किसी वाइसराय का भी भारत-आगमन के अवसर पर ऐसा स्वागत हुआ हो, जैसा कि दादाभाई का इस समय हुआ था!

'इण्डियन पार्लमेंटरी कमेटी' :: 'वेल्बी-कमीशन'

इसके बाद आगामी कई दिनो के लिए हमारे चरितनायक का मुख्य कार्यक्षेत्र ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही आँगन बना रहा। अपने इस कार्यकाल मे उन्होने भारतहितैषी सर विलियम वेडर्बर्न तथा अन्य मित्रों के सहयोग से 'इडियन पार्लमेंटरी कमेटी' नामक एक समिति की रचना कर भारतीय समस्याओं के प्रति पार्लमेंट के सदस्यों का ध्यान खीचने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया! इन्ही दिनों, सन् १८८६ ई० मे भारतीय शासन-खर्च के सबध में नियुक्त 'वेल्बी-कमीशन' नामक एक शाही जाँच-कमीशन के सदस्य के रूप मे भी उन्होने देश-सेवा का मूल्यवान् कार्य किया था! उन्होने उसके आगे एक जोरदार गवाही दी थी और डके की चोट पर इस बात को घोषित कर दिया था कि 'भारत में ब्रिटिश शासन की जो सबसे बड़ी बुराई है, वह है उसके द्वारा इस देश का वह निरन्तर आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक शोषण, जो कि दूसरों पर शासन करनेवाली किसी भी विदेशी सत्ता का एक अवश्यभावी परिणाम होता है।'

इसी प्रकार सन् १८९८ ई० मे भारतीय मुद्रा-नीति के सबन्ध मे नियुक्त एक सरकारी कमेटी के भी समक्ष दो महत्त्वपूर्ण लिखित बयान उन्होने दिए थे। पर उनके इस प्रवासकाल का सबसे अधिक महत्त्व का रचनात्मक कार्य यदि कोई था, तो वह था सन् १९०२ ई० में 'भारत की घोर गरीबी और उसका अ-ब्रिटिश कुशासन' शीर्षक उनकी उस प्रख्यात पुस्तक का प्रकाशन, जो कि आगे चलकर भारतीय अर्थ-विज्ञान और शासन-सबंधी

आलोचना की एक पाठ्यपुस्तक-सी बन गई ! इस ग्रंथ की प्रस्तावना में उन्होंने खुलकर इस बात की घोषणा कर दी थी कि 'भारत का वर्त्तमान शासन-तंत्र इस देश के लिए तो घोर निरंकुशता-पूर्ण और विनाशकारी है ही, पर साथ ही साथ स्वयं ब्रिटेन के लिए भी वह अशोभनीय और आत्मघातमूलक है ।'

सच तो यह था कि उन्हें विदेशी नौकरशाही की वह स्वेच्छाचारितापूर्ण नीति इतनी असह्य हो उठी थी कि इन्हीं दिनों पेरिस के एक पत्र-संवाददाता से भेंट करते समय उनके अंतस्तल से निम्न रोषपूर्ण वाक्य निकल पड़े थे—'हम लोगो के साथ एकदम गुलामों का-सा बर्त्ताव किया जाता है और सबसे भद्दी बात तो यह है कि हमारे ये मालिक हमारे अपने देश के नही बल्कि सात समुदर पार के विदेशी है !'

जब सन् १९०५ ई० में एम्स्टर्डम में होनेवाली सोशल डिमाक्रेटों की एक अंतर्राष्ट्रीय परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने भाग लिया, तो वहाँ भी जोरदार शब्दों में अपने देश के वर्त्तमान शासनतंत्र के प्रति निन्दा का एक प्रस्ताव रखकर अस्सी वर्ष की उस वृद्धावस्था में भी उन्होंने ऐसी हुंकार भरी थी कि सब कोई सुनकर दग रह गए थे !

तीसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष

तब आया सन् १९०६ ई० का कलकत्ता का वह मशहूर कांग्रेस-अधिवेशन, जब कि देश ने तीसरी बार राष्ट्रपति का आसन प्रदान कर, इस वृद्ध लोकनायक के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हुए, पुनः राष्ट्र की पतवार सँभालने के लिए उसका आह्वान किया । ओर केवल उसी का यह बूता भी था कि उस विषम सकट की घड़ी में काँटों के उस मुकुट को फिर से पहनना उसने स्वीकार कर लिया ! यह वह समय था, जबकि कर्जन की अदूरदर्शी दमननीति के कारण देश के राज-नीतिक वायुमंडल में एक अभूतपूर्व क्षोभ की भावना का सचार हो चुका था । फलतः हमारी राष्ट्रीयता में एक मार्मिक उद्वेलन, एक उग्र भावावेश का ज्वार उमड़ने लगा था ! यह था बंग-भंग के कारण समुच्छ्वसित स्वदेशी-आन्दोलन और विदेशी-बहि-ष्कार की तूफानी आँधी का जमाना, जब कि सन् सत्तावन की महाक्रांति के वाद भारतीय पौरुष विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध तनकर खड़ा होने के लिए मानो खम ठोककर पहले-पहल मैदान में आया था !

इस समय तक कांग्रेस के मंच पर 'गरम' (उग्र क्रान्तिकारी नीति का समर्थक) और 'नरम' (उदार-नीतिधर्मी) ऐसे दो विभिन्न दल बन चुके थे । उनके मतभेद की खाई दिन-पर-दिन इस प्रकार बढ़ती-चढ़ती चली जा रही थी कि हमारे राजनीतिक आँगन में एक गृहयुद्ध का-सा वातावरण पैदा हो गया था ! ऐसी विषम संकट की घड़ी में सिवा दादाभाई के दूसरा कोई ऐसा व्यक्तित्व राजनीतिक क्षेत्र में उस समय न था, जो कि दोनों दलों को साथ लेकर कांग्रेस की नौका को उस तूफान के वातावरण में से सकुशल पार लगा ले जाता । वस्तुतः उन्हीं का यह प्रभाव था कि कलकत्ता का वह अधिवेशन उस पारस्परिक संघर्ष का कुरुक्षेत्र बनने से बाल-बाल बच गया, जो कि अगले ही वर्ष सूरत की तूफानी कांग्रेस में आखिर अपना उग्र रूप प्रकट किए बिना न रह सका !

पहले-पहल 'स्वराज्य' का मंत्रोच्चार

इसी ऐतिहासिक अधिवेशन में पहले-पहल उस महत्त्वपूर्ण शब्द 'स्वराज्य' का कांग्रेस के मंच पर से उन्होंने मंत्रोच्चार किया, जो कि आगे चलकर हमारी राजनीतिक आकांक्षाओ का ध्रुव-बिन्दु बन गया ! साथ ही एकता की आवश्यकता की आवाज बुलद करते हुए इस देश के दरिद्रनारायण की मुक्ति के प्रश्न पर भी उन्होंने हमारा ध्यान खीचा, जिसका कि उल्लेख पिछले पृष्ठों में स्वयं उन्हीं के शब्दों में हम कर चुके है ।

परन्तु उनका अपना कार्य मानो यही आकर समाप्त हो गया ! क्योंकि अब भारतीय राष्ट्रीय जागरण की एक मंजिल—उसकी बाल्यावस्था—किनारे आ लगी थी, और दूसरी मंजिल के आरंभ होने की अब तैयारी होने लगी थी । अब पग-पग पर नरमाई की नीति से काम लेनेवाले मॉडरेटों के लिए क्रमशः नेपथ्य ही की ओट में खिसक चलने का समय आ पहुँचा था । कारण, हमारे राजनीतिक क्षितिज पर अब प्रखर रूप से तिलक और लाजपतराय जैसे उग्र लोकनायकों का व्यक्तित्व अधिकाधिक निखरता दिखाई देने लगा था । उधर दादाभाई के लिए तो वस्तुतः अपनी जीवन-लीला के भी पटाक्षेप की घड़ी अब

समीप आ लगी थी ! इसीलिए यद्यपि ८१ वर्ष की उस वृद्धावस्था में भी वह पुन: एक बार विलायत गए, परन्तु शरीर के साथ न दे सकने के कारण अंत में वापस आकर बम्बई के समीप वरसोवा नामक ग्राम को ही उन्हें अपना आखिरी विश्रामस्थल बना लेना पड़ा ! यहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष बारह वर्ष बिताए।

उनके इस जीवन-सध्याकाल मे भी भारत के समसामयिक राष्ट्र-नेता प्राय: समय-समय पर उनके उस तीर्थसम विश्रामस्थल की यात्रा करके उनके दर्शन एवं पथप्रदर्शन का लाभ उठाते रहे ! इन्ही दिनो बम्बई-विश्वविद्यालय ने सम्मानपूर्वक उन्हें 'डॉक्टर ऑफ लॉज' की उपाधि देकर अपने आपको गौरवान्वित किया। तब धूमधाम के साथ देश भर में उनकी ९१वीं वर्षगाँठ भी मनाई गई ! परन्तु अत में उनके उस दीर्घ जीवन की लम्बी डोर का छोर आ पहुँचा और ३० जून, सन् १९१७ ई०, के दिन बम्बई में ९२ वर्ष की आयु में इस 'भीष्म पितामह' ने सदा के लिए अपनी आँखें मूँद ली !

पुनर्जागरण-युग के पूर्वार्द्ध के महाप्रहरी

इस प्रकार अपने युग का न केवल भारत ही का, प्रत्युत सारे ससार का एक अन्यतम महापुरुष इस लोक से उठ गया ! दादाभाई का जीवन क्या था, मानो हमारे आधुनिक इतिहास के पुनर्जागरण-युग के पूर्वार्द्धकाल का एक सुदीर्घ आलेख था ! उनका जन्म हुआ था राममोहनराय के विलायत के लिए रवाना होने के समय से भी पाँच वर्ष पहले और उनकी मृत्यु हुई गांधीजी के अफ्रीका से लौटकर इस भूमि पर पदार्पण करने के भी लगभग ढ़ाई-तीन वर्ष बाद ! इस प्रकार करीब-करीब एक शताब्दी भर हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के उतार-चढाव का क्रम अपनी आँखों से देखने और स्वय भी उसके निर्माण में गहराई के साथ हाथ बँटाने का दुर्लभ अवसर उन्हें मिला ! उन्होंने एक ही धाराप्रवाह में राममोहन द्वारा पश्चिम के मार्ग के उद्घाटन तथा दयानन्द, रामकृष्ण, देवेन्द्र-केशव एव विवेकानन्द-रामतीर्थ द्वारा हमारे धर्म और समाज के महासंस्कार के अनुष्ठान से लेकर साहित्य-कला-विज्ञान के क्षेत्र में बंकिम, रवीन्द्र, अवनीन्द्र और जगदीशचन्द्र जैसी विभूतियों के आविर्भाव की अद्भुत झाँकी देखी ! स्वत: अपने कर्मक्षेत्र—राजनीति के आँगन—में भी तो सन् सत्तावन की महाक्रान्ति से लेकर कांग्रेस के उदय एवं उसके मच पर क्रमश: सुरेन्द्रनाथ, तिलक, गोखले, मालवीय, लाजपतराय और गांधी जैसे कर्णधारो के प्रवेश तक सभी कुछ एक महाप्रहरी की भाँति देखने-परखने का सौभाग्य उन्होने पाया ! तो फिर क्या आश्चर्य था कि हमारे पुनरुज्जीवन के ज्वार में पूरी तरह सराबोर होकर वह स्वय भी उस महायज्ञ के एक उद्भट पुरोहित वन गए !

दादाभाई का काम था वस्तुत: हमारे भावी राष्ट्रीय उत्थान के लिए उपयुक्त भूमि मात्र तैयार कर देना — एक कुशल कृषक की भाँति हमारे राजनीति की जमीन को हाँक-जोतकर इस योग्य बना देना कि आगे आनेवाली पीढी उसमें सहज ही अपनी फसल उपजा सके। उन्होने न केवल वह खेत ही तैयार कर दिया, बल्कि उसमें राष्ट्रीयता का बीजारोपण भी कर दिया, जिससे हमारा कार्य और भी आसान हो गया। वह लोकमान्य तिलक और गांधीजी से पहले के युग के हमारे सबसे महान् राजनेता थे। उनकी विरुदावली युग-युग तक हमारे इतिहासकारो द्वारा गाई जाती रहेगी, इसमें रंच मात्र भी किसी को संदेह नही हो सकता !

महादेव गोविन्द रानड़े

दादाभाई ही के साथ-साथ हमारे और भी अन्य अनेक राष्ट्रीय अग्रनेता पुनरोदय की पताका लेकर नवजागरण की उस ब्राह्मवेला में क्रमश: सामने आए थे। उनमें लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले और मदनमोहन मालवीय जैसे महान् लोकनायकों का तो परिचय आगे के कुछ प्रकरणो में विस्तारपूर्वक आपको मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त जो सबसे उल्लेखनीय नाम हमारे सन्मुख इस समय आता है, वह है महाराष्ट्र की आरभिक जागृति के केन्द्रस्वरूप, महान् समाज-सुधारक, उद्भट राजनीतिज्ञ एवं प्रखर अर्थशास्त्री न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानड़े का, जिनके कि प्रति अपने अतुल राष्ट्रीय ऋण का इन परिमित पक्तियों में पूरा लेखा दे पाना असंभव है। महामनि रानड़े अपने युग की भारतीय राजनीति के एक प्रकार से गुरु जैसे थे। यद्यपि सरकारी नौकरी की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण, वह अपने अन्य समकालीन राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की भाँति खुल-

कर हमारे राजनीतिक अखाड़े में उतरते नहीं देखे गए, फिर भी यह सब की जानी हुई बात थी कि बरसों क्या राजनीति और क्या समाज-सुधार, दोनों ही के रंगमच पर यवनिका की ओट से यथार्थत: सूत्र-सचालन करनेवाले व्यक्ति वही थे !

असाधारण व्यक्तित्व

उनकी महानता का इससे अधिक ज्वलन्त प्रमाण हमें और क्या चाहिए कि उनके सबसे प्रबल राजनीतिक प्रतिपक्षी लोकमान्य तिलक तक के मुख से उनकी मृत्यु के समय निम्न हृदयस्पर्शी उल्लेखनीय वाक्य निकल पड़े थे—'महाराष्ट्र का तेज विविध कारणों से नष्ट होकर एकदम ठंढे गोले की तरह बन गया था। उसे चैतन्यमय बनाकर पूर्वावस्था तक पहुँचाने की रात-दिन चिन्ता करने के साथ-साथ उस कठिन कार्य को अपने ऊपर लेने और उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करनेवाले सबसे पहले वीर महादेवरावजी ही थे।' तिलक उन्हे ज्ञानवेत्ता की दृष्टि से प्राय: हेमाद्रि अथवा माधव जैसे पूर्वाचार्यों की उपमा दिया करते थे !

यह महामनीषि कांग्रेस के तो आदि जन्मदाताओं में से था ही, साथ ही 'प्रार्थना-समाज', 'सार्वजनिक सभा', 'वसत-व्याख्यान-माला', 'वक्तृत्वोत्सव', 'औद्योगिक परिषद्', आदि-आदि और भी न जाने कितनी ही समसामयिक हलचलो की तह मे उसका गुप्त अथवा प्रकट रूप से हाथ था। फिर यदि उसकी अन्य सभी देनो को हम भूल भी जाएँ, तो भी क्या हमारे लिए यह भूलना कभी सभव हो सकेगा कि उसी से हमे महामना गोखले जैसे अद्वितीय राष्ट्रनायक का वरदान प्राप्त हुआ था !

जैसा कि एक पाश्चात्य समीक्षक ने श्रद्धाजलि चढ़ाते हुए कहा था, महादेव गोविन्द रानड़े एक ऐसे रत्न थे, जिसे पाने का सौभाग्य सौ वर्ष की अवधि मे केवल एकाध बार ही किसी देश को कभी-कभी प्राप्त होता है। उनकी प्रधान विशेषता थी उनकी वह असाधारण अध्यवसायवत्ति तथा किसी भी दशा में विचलित न होनेवाली धीरबुद्धि, जिसके कि बल पर पेचीदा से पेचीदा तथा अत्यन्त रूखे प्रश्नों तक का गहराई के साथ गहन अध्ययन करने में वह समर्थ हो पाते थे। हमें खेद इस बात का है कि स्थानाभाववश अलग से इस महान् राष्ट्र-विभूति का विस्तृत जीवन-परिचय यहाँ प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं। अन्यथा उसके चरित्र में महानता की ऐसी रश्मियाँ प्रस्तुत है कि युग-युग तक के लिए हमारे लिए वे एक पथनिर्देशक प्रकाशबिम्ब का काम दे सकती है ।

फीरोजशाह मेहता

रानड़े की ही तरह उदयकाल के उन महान् नक्षत्रों में से अन्य एक व्यक्तित्व का भी प्रकाश बलपूर्वक अपनी ओर ध्यान खीचकर हमारी आँखों में मानो चकाचौध-सी पैदा कर देता है। यह व्यक्तित्व था बंबई के ख्यातनामा नगर-पिता फीरोजशाह मेहता का, जिन्होंने लगभग पच्चीस वर्ष तक हमारे राजनीतिक क्षितिज पर एक आकाशदीप की भाँति अपना आलोक बखेरते हुए गौरव के साथ हमारा पथ-निर्दर्शन किया। उन्होने भी उस बाल्यावस्था की स्थिति में कांग्रेस की नैया को आगे बढाने के कार्य मे हमारे आरंभकाल के अन्य नेताओं से किसी दर्जे कम महत्त्वपूर्ण योग न दिया ! उन्होंने ही काग्रेस के छठे अधिवेशन का सभापति-पद ग्रहण किया था और यद्यपि वह राजनीति के क्षेत्र मे जीवन भर शत-प्रतिशत एक मॉडरेट या बने नरम नीतिवाले नेता ही रहे, तथापि उनके व्यक्तित्व मे ऐसा कुछ प्रभाव था कि जब तक वह मैदान में रहे, शत्रु और मित्र सभी पर उनकी एक अजीब धाक-सी पड़ती रही ! गाधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में जहाँ लोकमान्य तिलक की 'महासागर' से और गोखले की 'भागीरथी गगा' की धारा से तुलना की है, वहाँ फीरोजशाह को उन्होंने दुर्गम 'हिमालय' के उच्च शिखर के तुल्य बताकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है !

'पहले मैं भारतीय हूँ, उसके बाद पारसी'

निश्चय ही यह महापुरुष अपने युग का एक दिग्गज राजनेता था। उसके व्यक्तित्व में पडित मोतीलाल नेहरू की तरह एक प्रकार का शाहीपन-सा टपकता था। वह था दादाभाई के बाद होनेवाला सबसे महान् पारसी। पर गर्व के साथ वह कहा करता था कि 'मैं पहले भारतीय हूँ और उसके बाद पारसी हूँ !' फीरोजशाह का राजनीतिक क्षेत्र से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी ख्याति का काम था बबई के म्युनिसिपिल क्षेत्र के अंतर्गत किया गया उनका वह महान् सेवा-कार्य, जिसकी बदौलत आज उस नगर के सबसे महान् नगर-पिता के रूप में उनकी याद की

जाती है। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक बम्बई उन्हीं के दूरदर्शितापूर्ण ठोस प्रयासों का सुफल है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने न केवल उस नगर के पार्थिव कलेवर को ही एक सुघड रूप देने तथा उसकी वृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने में अमूल्य योग दिया, प्रत्युत उसके सार्वजनिक जीवन को भी एक ऊँचे स्तर तक ऊपर उठाने में अपने महान् शिक्षागुरु दादाभाई की भाँति अनवरत परिश्रम किया!

अपने नगर के म्युनिसिपल कार्पोरेशन के अलावा बम्बई-विश्वविद्यालय की उन्नति और वृद्धि-विकास के लिए भी, जिसके कि कुछ समय तक वह वाइस-चांसलर भी रहे, उन्होंने काफी परिश्रम किया था। उन्होंने ही अधगोरे 'टाइम्स आफ इंडिया' पत्र के मुकाबले में सुप्रसिद्ध 'बम्बई क्रॉनिकल' नामक राष्ट्रीय दैनिक पत्र की प्रस्थापना की थी। इस प्रकार न केवल बम्बई के नागरिकों के लिए ही, बल्कि सारे देश के हितार्थ उन्होने उसके द्वारा एक जबर्दस्त राष्ट्रीय मोर्चा खड़ा कर दिया था! उद्योग-धंधों के क्षेत्र में उनकी प्रेरणा से प्रस्थापित 'सेंट्रल बैंक आफ इंडिया' एक उज्ज्वल स्मारक-आलेख है! सारांश यह है कि हर दृष्टि से यह उद्भट महापुरुष अपने युग का हमारा एक सबल राष्ट्रनेता था। यदि आज इस देश के आधुनिक राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूतों की श्रेणी में हम उसे प्रथम पक्ति में प्रतिष्ठित देखते है, तो यह सर्वथा उसके व्यक्तित्व और देन के उपयुक्त ही है।

राष्ट्रीय जागरण के अन्य अग्रदूत

इन दो विशेष रूप से उल्लेखनीय विभूतियों के अलावा हमारे आरम्भिक राष्ट्र-निर्माताओं की लंबी तालिका में जोड़े जाने योग्य और भी न जाने कितने ही लोकनेताओं के नाम हैं, जिनके कि प्रति अपने अगाध राष्ट्र-ऋण को न तो हम कभी भुला ही सकेंगे और न कभी पूरी तरह उस ऋण को चुका ही पाएँगे। ये हैं :—

कांग्रेस की प्रस्थापना के महत्कार्य में प्रमुख रूप से हिस्सा बँटाकर, उसके प्रथम अध्यक्ष का आसन सुशोभित करनेवाले उद्भट राजनीतिज्ञ उमेशचंद्र बेनर्जी।

दादाभाई ही की तरह दीर्घ आयुष्य पाकर कांग्रेस के मंच पर से देश के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयास करते रहनेवाले, उसके सत्रहवें अधिवेशन के सभापति दिनशा ईदुलजी वाचा।

अपनी निर्भीक वाणी और सचोट देशभक्ति द्वारा इस महादेश के दक्षिणी भाग में सर्वप्रथम जागृति का मंत्र फूँकनेवाले, कांग्रेस के क्रमशः सातवें और पैंतीसवें अधिवेशनो के सभापति, पी० आनन्द चार्लू तथा चक्रवर्त्ती विजयराघवाचार्य।

भारत के हृदय-प्रदेश 'उत्तर प्रदेश' में पहले-पहल राजनीति का बीज बोनेवाले सर्वश्री अयोध्यानाथ, विश्वभरनाथ और गगाप्रसाद वर्मा।

अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल पर ब्राह्म समाज और कांग्रेस दोनों ही की वेदी पर से समान रूप मे चमकनेवाले, चौदहवे कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति, आनंदमोहन वसु।

कांग्रेस की प्रस्थापना से भी पूर्व सार्वजनिक क्षेत्र मे उतरकर दादाभाई, फीरोजशाह और उमेशचन्द्र बेनर्जी द्वारा विलायत में आरम्भ किए गए भारत-सम्बन्धी आरम्भिक प्रचार-आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योग देनेवाले मनमोहन घोष।

अपनी बेजोड़ वक्तृत्व-शक्ति द्वारा सुरेन्द्रनाथ जैसे दिग्गज वक्ता तक से भी टक्कर लेने का सामर्थ रखनेवाले, कांग्रेस के उन्नीसवे अधिवेशन के सभापति लालमोहन घोष।

जीवन भर सरकारी नौकरी की शृंखलाओं में बँधे रहने पर भी अनवरत राष्ट्र-सेवा तथा साहित्या-राधना द्वारा मातृभूमि का मुख उजागर करनेवाले, बंगाल के अन्यतम सितारे रमेशचन्द्र दत्त।

कांग्रेस के सर्वप्रथम अधिवेशन में सबसे पहला प्रस्ताव पेश करने का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त करने तथा उस आदि-युग ही में अपनी लौह लेखनी की स्पष्टवादिता के कारण देश के हितार्थ कारागार की हवा खानेवाले, 'हिन्दू' पत्र के नामांकित संपादक जी० सुब्रह्मण्य ऐयर।

भारतीय मुसलमानों में सबसे पहले राष्ट्रीयता के आँगन में अग्रसर होने का साहस दिखानेवाले, कांग्रेस के पक्के हिमायती और उसके तीसरे अधि-वेशन के सभापति, बदरुद्दीन तैयबजी।

महामान्य रानडे ही की भाँति उस आरम्भकाल में हाइकोर्ट के न्यायाधीश के उच्च पद तक पहुँचने का असाधारण सम्मान प्राप्त करने तथा हमारे नव-जागरण के अनुष्ठान को आगे बढाने में महत्त्व का योग देनेवाले काशीनाथ त्र्यंबक तैलङ्ग।

महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में समाज-सुधार की पताका फहराने में विशेष रूप से भाग लेनेवाले

लोकमान्य तिलक के आरम्भिक सहयोगी गोपाल गणेश आगरकर और विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ।

कांग्रेस के सोलहवे अधिवेशन के अध्यक्ष, बंबई-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर और बम्बई-हाई-कोर्ट के जस्टिस नारायण गणेश चन्दावरकर ।

डॉ० तेजबहादुर सप्रू के 'राजनीतिक गुरु' तथा कांग्रेस के छब्बीसवें अधिवेशन के सभापति विशन-नारायण दर ।

लखनऊ के सन् १९१६ के ऐतिहासिक काग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष बनने का गौरव प्राप्त करने-वाले, पूर्वीय बंगाल के राष्ट्रीय महारथी अम्बिकाचरण मजूमदार ।

इनके अलावा अपने-अपने ढग से उच्च कोटि की सेवाओं द्वारा हमारी राष्ट्रवेदी को प्रशस्त बनाने मे योग देनेवाले और भी कितने ही नाम ऐसे है, जिनके उल्लेख के बिना हमारे राष्ट्रीय नवजागरण के आर-भिक युग की यह गौरव-प्रशस्ति निश्चय ही अधूरी रह जायगी ! उनमें से कुछ ये हैं —

कालीचरण बेनर्जी, रघुनाथ नृसिंह मुधोलकर, दाजी आबाजी खरे, वामन सदाशिव आप्टे, बहरामजी मला-बारी, रामकृष्ण भांडारकर, आर० रघुनाथराव, पी० केशव पिल्लै, शकरन नायर, रहीमतुल्ला सयानी, राजा रामपालसिंह, नवाब सैयद मुहम्मद बहादुर, मौलाना मजहरुलहक, लाला मुरलीधर, सत्येन्द्रप्रसन्न-सिह, भूपेन्द्रनाथ बसु, सच्चिदानद सिंह, पंडित सुन्दरलाल, सरदार दयालसिह मजीठिया, पी० रगैया नायडू, एन० सुब्बाराव पन्तुलु, शिशरकुमार घोष, मोतीलाल घोष, विपिनचन्द्र पाल, आदि-आदि ।

ये सभी महापुरुष हमारे प्रभातकाल के ऐसे चमकते हुए सितारे थे कि यदि इनमें से प्रत्येक की महत्ता पर अलग-अलग एक-एक पूरी पुस्तक भी लिखी जाय, तो कम ही होगी ! परन्तु हमें खेद है कि प्रस्तुत ग्रंथ के परिमित आकार तथा विषय के दीर्घ विस्तार को देखते हुए, इन सब लोक-नेताओं का पृथक्-पृथक् विस्तृत परिचय देकर उनकी आरती उतारने में हम यहाँ असमर्थ है। पर इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हम उनकी महती सेवाओं का किसी भी अश में कम मूल्य आँकते हों ! वस्तुतः हमारी विवशता ही हमें बाध्य कर रही है इन सभी राष्ट्रीय अग्रदूतों को समष्टि रूप ही से श्रद्धाञ्जलि चढाकर उनके नामोल्लेख मात्र से यहाँ संतोष मान लेने के लिए !

अलग-अलग नीति के बावजूद एक ही लक्ष्य

ये सब राष्ट्र-नेता यद्यपि अपने-अपने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों तथा व्यक्तिगत सस्कारों के अनुरूप अलग-अलग प्रकार से हमारी प्रगति की लीक प्रस्थापित करने का प्रयत्न करने-वाले एक-दूसरे से बहुत-कुछ निराले कार्यकर्त्ता थे, और आज के युग की हमारी राजनीतिक धाराओं के पैमाने पर नापने पर ये बहुत-कुछ ठंडे और नरम ही प्रतीत होते हैं, फिर भी उन सबमें जहाँ तक कि देश की हित-साधना का प्रश्न था, एक अद्भुत समान लक्ष्य और एकता का ही भाव पिरोया हुआ था ! वे सब हृदयतल से केवल एक ही महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए, अपने-अपने ढंग से, चाहे शांतिमूलक वैधानिकता अथवा क्रान्तिमूलक सघर्ष के पथ की ओर अग्रसर हुए थे। उनका वह महान् ध्येय केवल यही था कि यह महादेश स्वाधीनता तथा समृद्धि के उच्च शिखर पर प्रति-ष्ठित होकर पुनः ससार मे अपना सिर ऊँचा कर सके !

जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार डॉ० पट्टाभि सीतारामैया ने कहा है, 'इन पूर्ववर्त्ती नेताओं का जो कार्यक्रम और दृष्टिकोण रहा, वह आज हमें शायद पसन्द भी न हो, और इसी तरह यह भी संभव है कि उन पुराने नेताओ को शायद आज का हमारा कार्यक्रम और दृष्टिकोण पसन्द न हुआ होता। लेकिन हमें यह कदापि न भूल जाना चाहिए कि आज हम जो कुछ कर सके हैं और करने की आकांक्षा रखते है, वह सब प्रारम्भ मे उनके द्वारा किए गए प्रयत्नों और महान् बलिदानों के फल-स्वरूप ही है !'

राष्ट्रवेदी की नींव की आधारशिलाएँ

निश्चय ही वही वे नींव की आरभिक शिलाएँ हैं, जिन पर कि कांग्रेस के रूप में बाद की हमारी राष्ट्रवेदी क्रमशः उठकर खड़ी हुई । और भला कौन नही जानता कि किसी भी इमारत के लिए उसके ऊपर चढनेवाली मंजिलों और मीनारों से भी कितनी अधिक महत्त्व रखती हैं उसकी वे प्रारम्भिक आधारशिलाएँ, जिन पर कि उसका सारा ढाँचा क्रमशः खड़ा किया जाता है और जिन पर उसकी नीव स्थापित होती है ।

बाल गंगाधर तिलक

कुछ वर्ष हुए, पश्चिम के विश्वविश्रुत तत्त्वदर्शी नीत्शे के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए एक पत्रकार ने लिखा था कि 'पिछली तीन शताब्दियों में कुल पाँच-छः ही सच्चे हिन्दू संसार में पैदा हुए हैं और इधर सौ साल में तो केवल दो — भारत में लोकमान्य बाल गगाधर तिलक और जर्मनी में फ्रीडरिश विलहेल्म नीत्शे !' बात स्पष्टतः अत्युक्तिपूर्ण थी ! क्योंकि जिस युग में साथ-साथ ही रामकृष्ण और दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ, गांधी और रवीन्द्रनाथ तथा अरविंद घोष जैसी विभूतियाँ भी प्रकट हुई हों, उसे हिन्दुत्व की उपज के लिए अनुर्वर-सा बताना न केवल इतिहास की आँखों में धूल झोंकने, बल्कि हिन्दूपन की व्यापक परिभाषा को उलटकर उसे एक संकुचित शिकंजे में कस देने के समान ही होगा। तथापि इस कथन से लोकमान्य की महत्ता और विशिष्टता पर अवश्य ही प्रकाश पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि उनका सबसे उपयुक्त परिचय यही कहकर दिया जा सकता है कि वह एक सच्चे 'हिन्दू' थे। साथ ही वह अपने युग की अन्य सभी लोक-विभूतियों से बहुत-कुछ निराले भी थे। वह हमारी जातीय सस्कृति की एक परंपरा विशेष के प्रतिनिधि थे, जिस प्रकार गांधीजी उसी संस्कृति की अन्य एक विशिष्ट परंपरा के प्रतीक थे। वह हमें याद दिलाते थे मनु, रघु, श्रीकृष्ण, कौटिल्य, विक्रमादित्य, गोविन्दसिंह और शिवाजी की, जब कि गांधीजी राम, युधिष्ठिर, महावीर, बुद्ध, अशोक, चैतन्य, कबीर, नानक, आदि का स्मरण कराते थे !

हमारी दो विशिष्ट परम्पराएँ

वस्तुतः हमारे जातीय जीवन में पुराकाल ही से दो विशिष्ट परम्पराएँ पनपती, आदर पाती और युग-युग से हमारा पथ-निर्देश करती चली आ रही हैं, जिससे कि भारतीय इतिहास की पगडडी के आसपास लगातार दो विभिन्न श्रेणियों के महामनीषि-रूपी प्रकाश-स्तम्भों की पृथक्-पृथक् पंक्तियाँ-सी निर्मित हो गई हैं। इनमें से एक को हम यदि आज की शब्दावली में 'नरम' या 'माडरेट' कहे, तो दूसरी को उसी स्वर में 'गरम' या 'उग्र' कह सकते हैं, यद्यपि यह उपमा एकदम अक्षरशः लागू नहीं की जा सकती। उनके पारस्परिक अंतर को हम वास्तव में यह कहकर अधिक स्पष्ट कर सकते हैं कि एक सतों की परम्परा है, तो दूसरी नीतिज्ञों की। एक करुणा, अहिसा और तप की राह है, तो दूसरा 'शक्ति-योग' का कठोर मार्ग कहा जा सकता है।

परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना सही न होगा कि पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में स्थित दिखाई पड़ने के कारण इन दोनों परम्पराओं में मूलतः वैषम्य या

विरोधाभास रहा हो। वस्तुतः वे एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नही। वे एक ही पट के दो पटल जैसी है। इसका ज्वलन्त प्रमाण हमे अपने आज के ही युग के इस प्रकट तथ्य से मिल जाता है कि इनमें से एक के छोर पर स्थित तिलक से जहाँ हमने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह महामंत्र पाया, वहाँ दूसरी के महान् युग-प्रतिनिधि गांधीजी से उस उत्तराधिकार को प्राप्त करने का एकमात्र सच्चा साधन हमें मिला! एक ने गीता के महान् 'कर्मयोग' का पाठ पढाकर हमें पुनः रणक्षेत्र मे ला खड़ा किया। दूसरे ने स्वयं अपने जीवन में उसके सफल प्रयोग का एक साकार उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उस लडाई को ठीक से लड़ना हमें सिखाया! इस प्रकार दोनों के हाथों एक ही महान् राष्ट्रीय अनुष्ठान की पूर्ति में योग मिला। दोनों ने एक ही राष्ट्रवेदी पर अपनी-अपनी रीति से अर्घ्य चढाया!

हमें तो यही सोचकर अपना भाग्य सराहना चाहिए कि अपने जातीय इतिहास के इस सकटपूर्ण काल में ऐसे दो अद्वितीय कर्णधारों का हाथ हमारे राष्ट्र की डगमगाती नौका की पतवार पर लगा, जो कि हमारी संस्कृति की पूर्वोल्लिखित दो प्रमुख परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक प्रतिनिधियों के रूप में हमारे इतिहास मे अमर रहेंगे! आर्य बाल गगा-धर तिलक और महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी इस देश की आत्मकथा के आधुनिक पर्व के दो सर्व-प्रथम सर्ग जैसे है। उनकी महानता का बहुत-कुछ अनुमान तो केवल इसी एक बात से किया जा सकता है कि उन दोनों की जीवन-कहानियों में पिछली लगभग एक शताब्दी का हमारा सारा राजनीतिक इतिहास पिरोया हुआ है!

पैतृक संस्कारों की देन

तिलक का जन्म महाराष्ट्र के कोकण प्रदेश के रत्नगिरि नामक समुद्रतटवर्त्ती स्थान में २३ जुलाई, सन् १८५६ ई०, के दिन उस प्रख्यात चित्पावन ब्राह्मण जाति में हुआ था, जिसे पिछले दो सौ वर्षों में पेशवाओ से लेकर रानड़े, गोखले और हरिनारायण आप्टे तक विविध महाराष्ट्रीय नररत्नों को उपजाने का अन्यतम गौरव प्राप्त है। उनका पूरा नाम तो था बलवन्तराव तिलक, किन्तु प्यार से बचपन में अपने परिवार मे संक्षेप मे केवल 'बाल' कहकर ही संबोधित किए जाने के कारण, आगे चलकर सार्वजनिक रूप में भी इसी छोटे-से नाम द्वारा ही, पिता के नाम सहित, 'बाल गंगाधर तिलक' कहकर वह अभिहित किए जाने लगे! उनके पिता श्रीगंगाधरराव तिलक आरभ में तो अपने कस्बे की स्थानीय पाठशाला में एक साधारण शिक्षक के रूप में काम करके भरण-पोषण करते थे। किन्तु कालातर में वह क्रमशः थाना तथा पूना जिलों के सरकारी स्कूलों के असिस्टेण्ट डिप्टी-इंस्पेक्टर हो गए थे। वह गणित तथा सस्कृत व्याकरण के माने हुए पडित थे। अतः जान पड़ता है कि लोकमान्य को इन दोनों विषयों की प्रभुता बहुत-कुछ अपने पैतृक संस्कारों के ही फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। कहते हैं, पिता उन्हें नित्य सस्कृत के श्लोक कण्ठस्थ कराया करते थे और प्रति एक नए श्लोक को याद कर लेने पर एक पाई पुरस्कार के रूप में उन्हें देते थे! इस प्रकार निपट बाल्यावस्था ही में हमारे चरितनायक के मस्तिष्क में प्राचीन संस्कृत विद्या के प्रति अनुराग के ऐसे प्रगाढ सस्कार-बीज अकुरित हो गए कि आगे चलकर उनकी जीवन-धारा के एकदम राजनीति की दिशा में मुड़ जाने पर भी वे बीज अगाध पांडित्य के रूप में पुष्पित-पल्लवित हुए बिना न रह सके!

विद्यार्थी-काल मे तिलक बड़े नटखट स्वभाव के, हठीले और जबर्दस्त विवादी थे। वह नजाकत, नाज-नखरे और थोथी शान-शौकत बघारनेवालों के कट्टर दुश्मन थे। हाँ, इस देश की प्राचीन गौरव-गरिमा एव सरल जीवन के वह हृदय से उपासक थे। इसी कारण पश्चिम की हवा में बहनेवाले नई रोशनी के अपने सहपाठियों तथा शिक्षकों से उनका प्रायः नित्य का झगड़ा बना रहता था। वह उन्हें तरह-तरह से तंग करके कड़ा सबक सिखाने के मौके से कभी भी चूकते नही थे! अपने इसी शरारती स्वभाव के कारण ही वह अपने साथियों द्वारा उन दिनों 'डेविल' (शैतान), 'ब्लंट' (लट्ठभारती) आदि आदि उपनामों द्वारा संबोधित किए जाते थे!

आजीवन लोकसेवा का संकल्प

कालान्तर में पूना के प्रसिद्ध 'डेक्कन कॉलेज' से प्रथम श्रेणी में सम्मानसहित बी० ए० की परीक्षा पास करके वह कानून के अध्ययन के लिए बंबई के 'एलफिन्स्टन कॉलेज' में प्रविष्ट हुए और वहाँ से १८७९ ई० में एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त कर अंत में विश्वविद्यालय के प्राङ्गण से बाहर निकले। यद्यपि

अपनी इस पढ़ाई का लाभ उठाकर उन्होंने बाद में कभी वकालत का पेशा नही किया, फिर भी कानून-संबंधी इन दिनों के उनके अध्ययन ने—विशेषकर हिन्दू-धर्मशास्त्र-विषयक गहन ज्ञान ने—आगे चलकर सार्वजनिक क्षेत्र में उतरने पर उन्हें पग-पग पर अनमोल सहायता पहुँचाई। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि अपने विद्यार्थी-काल ही में हमारे चरितनायक ने अपने एक आदर्शवादी मित्र और सहपाठी श्री गोपाल गणेश आगरकर के साथ सरकारी नौकरी का मोह छोड़कर जीवन भर देश और समाज की सेवा करने का ही सुदृढ़ संकल्प कर लिया था। अतः ज्योंही पढ़-लिखकर वह कॉलेज की कक्षा से बाहर निकले, त्योंही १८८० ई० में मराठी के ख्यातनामा साहित्यकार श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के साथ पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' नामक एक सार्वजनिक शिक्षण-सस्था की प्रस्थापना में हाथ बँटाकर अविलम्ब लोकसेवा के पथ पर अपने कदम बढ़ाते वह दिखाई दिए।

'केसरी' और 'मराठा' :: प्रथम कारावास

इसके वर्ष भर बाद ही जनजागरण के लिए समाचारपत्रो की आवश्यकता एव महत्त्व का अनुभव करते हुए उन्होने 'केसरी' और 'मराठा' नामक दो साप्ताहिक पत्र भी क्रमशः मराठी और अंग्रेजी में निकालना शुरू किया। इन पत्रों के सचालन मे उनके मित्र आगरकर ने भी खुले हाथ साथ दिया। तब कोल्हापुर-राज्य के तत्कालीन कुशासन के संबंध में कुछ आलोचनात्मक सामग्री छापने के कारण, सन् १८८२ ई० मे 'केसरी' पर मानहानि का एक मुकदमा चलाया गया। फलतः सार्वजनिक क्षेत्र में कदम रखते ही हमारे चरितनायक को अपने मित्र सहित चार मास के लिए कारागार की हवा खानी पड़ी!

यह घटना तिलक के लिए जनक्षेत्र में आगे बढने की मानो पहली सीढी थी। दमनचक्र के इस अन्याय-पूर्ण प्रहार ने अप्रयास ही उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में ऊपर उछालकर जनता के हृदय का हार बना दिया। जब वह जेल से छूटकर वापस आए, तो हजारों की सख्या में लोगो ने जोरों के साथ उनका स्वागत और अभिनन्दन किया। इसके पूर्व भी जब कि उनका मुकदमा चल रहा था, लोगों की ओर से हर तरह से उन्हें मदद पहुँचाने की कोशिश की गई। यहाँ तक कि उनके सहायतार्थ एक नाटक भी खेला गया, जिसमें कि उनके भावी महान् विपक्षी युवक गोपाल कृष्ण गोखले तक ने बड़े उत्साहपूर्वक एक नारी-पात्र का अभिनय किया!

तीन वर्ष बाद इन सभी उत्साही साथियों के प्रयत्न से विख्यात 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' की प्रस्थापना हुई। स्वभावतः ही तिलक ने भी, अपने अन्य सहयोगियो की तरह नाममात्र के पारिश्रमिक पर आजन्म शिक्षण-कार्य करने का व्रत ले, खुशी से उक्त सस्था की स्थायी सदस्यता स्वीकार की। इस संस्था के तत्त्वावधान मे १८८५ ई० मे जब 'न्यू इग्लिश स्कूल' चोला बदलकर सुप्रसिद्ध 'फर्ग्यूसन कॉलेज' में परिणत हो गया, तो उसके गणित और संस्कृत के प्रोफेसर का काम स्वयं तिलक ही ने सँभाला।

आगरकर से मतभेद

परन्तु अभी कुछ ही समय बीत पाया होगा कि उनके और समिति के अन्य कार्यकर्त्ताओ के बीच नीति के संबध में गहन मतभेद पैदा हो गया। फलतः सन् १८९० ई० मे समिति और उससे सबधित कार्यों से उन्हें सदा के लिए अपने आपको पृथक् कर लेना पड़ा। साथ ही 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के विषय में भी, अपने सहयोगी आगरकर के साथ गहरा मतान्तर उत्पन्न हो जाने के कारण, शीघ्र ही उन्हे अपनी राह एकदम अलग कर लेने के लिए विवश हो जाना पड़ा। उन्होने सन् १८९१ ई० में दोनो ही पत्रो का सपूर्ण स्वत्व-भार स्वय खरीद लिया और अब अपने ही बूते पर स्वतंत्र रूप मे इन्हें निकालना शुरू किया।

इस सारे बखेड़े का कारण यह था कि जहाँ आगरकर आदि उनके साथी सामाजिक विषयों मे एकदम उग्र थे तथा राजनीतिक क्षेत्र में बहुत ही नरमाई की नीति अपनाने के हिमायती थे, वहाँ लोकमान्य इसके प्रतिकूल समाज-सुधार के क्षेत्र मे लंबी छलाँग भरने के विरोधी थे और राजनीतिक उत्थान के लिए अधिक तेजी से आगे बढने के प्रबल समर्थक थे! तो फिर क्योकर उनकी एक-दूसरे के साथ अधिक दिनो तक पट सकती थी!

अपने इन साथी-सहयोगियों से पृथक् हो जाने पर भी अपनी जन्मजात प्रतिभा, उत्कट लगन और अदम्य कार्यशक्ति के बल पर शीघ्र ही लोकमान्य ने अकेले हाथ ही जनक्षेत्र मे अपने लिए एक अजित् स्थान बना लिया। उनकी लौह लेखनी के जादूभरे चमत्कार से अल्पकाल ही में 'केसरी' और 'मराठा' महाराष्ट्र के प्रतिनिधि

पत्र बन गए। उनमें 'केसरी' तो मराठी भाषा-भाषी संसार के लिए घर-घर की-सी वस्तु बनकर प्रति सप्ताह हजारों की संख्या में खपने लगा !

इस बीच अपनी आजीविका चलाने के लिए तिलक ने पूना में एक खानगी लॉ-क्लास भी खोल ली थी, जिसमें मामूली-सी फीस लेकर कानून के विद्यार्थियों को पढ़ाकर वह परीक्षा के लिए तैयार किया करते थे ! परन्तु जब उनका सार्वजनिक उत्तरदायित्व दिन-पर-दिन बढ़ने लगा, तो उन्होंने अपना सारा समय अब लोकसेवा ही के पुनीत कार्य में लगाना शुरू किया। उन्होंने अपनी आमदनी-विषयक सुविधा-असुविधा का खयाल न करते हुए उक्त लॉ-क्लास को भी शीघ्र ही बंद कर दिया !

मातृभूमि की मुक्ति की साध

सच तो यह था कि इस महापुरुष का आविर्भाव ही हुआ था केवल जन-कल्याण के लिए। वह तुच्छ दुनियावी प्राणियों की तरह निजी सांसारिक उत्कर्ष-साधना के लिए नही बना था ! उसका तो एकमात्र जीवन-ध्येय यही था कि इस महादेश की सुषुप्त आत्मा को अपनी गहरी नीद में से जगाकर पुनः उसके जर्जरीभूत कलेवर में उस प्राणवाही जीवनधारा का संचार किया जाय, जिसके कि प्रताप से किसी समय उसके सुनहले अतीत का भव्य निर्माण हुआ था ! वह इस महिमामयी भूमि को विदेशी शासन की शृंखलाओं से मुक्त कर पुनः उसे अपने स्वयंसिद्ध स्वाधिकार के स्वच्छन्द वातावरण में प्रतिष्ठापित करने का स्वप्न देखता था। इसीलिए वह हमें अपनी उन भूली हुई शपथों की याद दिलाना चाहता था, जिनकी कि गौरवरक्षा के लिए कभी चित्तौड़गढ़ के रखवाले अलबेले राजपूत अपनी वीराङ्गनाओं सहित रक्त और आग की फाग का वह भयावना खेल खेलने के लिए बार-बार अग्रसर हुए थे, और जिनकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए सह्याद्रि के अचल में विचरनेवाले वीरवर मराठे केवल एक-दो पीढ़ी पूर्व ही अपने दुर्द्धर्ष जात्याभिमान और स्वदेश-प्रेम के बल पर एक सशक्त साम्राज्यवादी पंजे से लोहा लेने के लिए मधुमक्खियों के झुण्ड की तरह निकल पड़े थे !

उसके मन में रह-रहकर उस स्वातन्त्र्य-पताका की याद मँडराती, जिसे कि राष्ट्रपति शिवाजी ने केवल डेढ़ शताब्दी पूर्व ही मुगलों की साम्राज्यशाही का गढ़ विध्वंस करके इस महादेश के आँगन में पुनः फहराया था ! वह राष्ट्र-पताका पिछले दिनों की हमारी निर्जीवतासूचक गहन निद्रा के कारण कैसे भयंकर अपमान की दशा में छिन्न-भिन्न होकर पड़ी थी ! यह उसके बर्दाश्त से बाहर की बात थी। इसीलिए तो स्वातंत्र्य-लक्ष्मी का यह अनन्य पुजारी उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के प्रश्न पर रंचमात्र भी शीश झुकाने को तैयार नही था !

'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'

यद्यपि इसी लक्ष्य को लेकर और भी कई आवाजें देश में इसी समय उठने लगी थीं, किन्तु उसकी ललकार में जो सिंह की-सी हुंकार, जो जात्याभिमान और निर्भीकता का भाव था, वह आधुनिक भारतीय राजनीति के लिए उन दिनों बिल्कुल ही एक नई चीज थी ! सच तो यह था कि उसे आजादी के लिए किसी के भी आगे नाक रगड़ना अभीष्ट न था, वह तो 'स्वराज्य' को अपना और देश का 'जन्मसिद्ध अधिकार' घोषित करता था। और अपने उस खोए हुए अधिकार को हर तरीके से फिर से प्राप्त करने के लिए कमर कसकर मैदान में उतरने को वह हमें ललकारता था।

तो फिर क्या आश्चर्य था, यदि उसके उस अमोघ अस्त्र 'केसरी' के पृष्ठों में दिन-प्रति-दिन उसकी लौह लेखनी विदेशी शासन-तंत्र की काली करतूतों के विरुद्ध आग के धधकते हुए अंगारे उगलती थी ! वह गोरी नौकरशाही की निरकुशता का बेधड़क भडाफोड़ करते हुए परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से हर प्रकार से जनहृदय को स्वाधीनता के भावी संग्राम के लिए तैयार करने में ही अपने आपको लवलीन किए हुए था ! वह तो नितप्रति मानो लोहे के घन से पीट-पीटकर इस देश के सोए हुए पौरुष को अपनी जड़ावस्था को त्याग पुनः उस विद्युत् की-सी तड़प-वाली तेग का स्वरूप धारण करने के लिए उभाड़ने में लगा था, जिसका कि जौहर जागे बिना उसकी राय में इस दुरवस्था से हमारे उबरने की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी।

और आखिर उसके इस रवैये का स्वभावतः वही नतीजा होकर रहा, जो कि होना चाहिए था। वह एक ओर तो जहाँ जनहृदय के भीतरी से भीतरी स्तरों में पैठकर अल्पकाल में ही सच्चे अर्थ में बन गया 'लोकमान्य', वहाँ साथ ही साथ सरकारी आँखों में दिन-पर-दिन शूल की तरह गड़ते-चुभते

रहने के कारण, एक ऐसे खटकनेवाली वस्तु का रूप उसने धारण कर लिया कि उससे अधिक खतरनाक कोई भी व्यक्ति अंग्रेजों को अब इस देश में दूसरा न दिखाई देने लगा !

'क्राफर्ड-प्रकरण'

इस बीच तिलक द्वारा जनोत्थान के जो अनेक प्रयास हुए, उनमें एक ओर तो रत्नगिरि के घूंसखोर अंग्रेज कमिश्नर क्राफर्ड के नाम पर मशहूर सन् १८८८ ई० में उठ खड़ा होनेवाला प्रख्यात 'क्राफर्ड-प्रकरण' और दूसरी ओर महाराष्ट्र की जागृति के उद्देश्य से इन्हीं दिनों उनके द्वारा चलाए गए दो सार्वजनिक त्यौहार—'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी-जन्मोत्सव'—विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

इनमें 'क्राफर्ड-प्रकरण' की कैफियत यह थी कि जब उक्त गोरे अफसर की रिश्वतखोरी की हवा बहुत गरम होने लगी, तो सरकार ने उस पर तथा उसके अधीनस्थ कुछ भारतीय तहसीलदारों पर, जिनके कि मार्फत वह घूंस खाता था, आरोप लगाकर मामला चलाने का निश्चय किया ।

परन्तु जब एक गोरे अफसर की बेईमानी के रहस्योद्घाटन का मामला सामने आने पर जनता उसमें बेहद दिलचस्पी लेते दिखाई देने लगी, तो अंग्रेज सत्ताधारी तुरन्त ही शकित हो गए और अपनी जातीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए उन्होंने इस मामले को ज्यों-का-त्यों वही दबा देने ही में भलाई समझी । इसीलिए उस पर मुकदमा न चलाकर उन्होंने इस सबन्ध में एक जाँच-कमीशन बैठाया, जिसने कि उस सरासर दोषी गोरे हाकिम को तो अपराध से बरी कर दिया, पर उसके अधीन भारतीय तहसीलदारों को दोषी करार देकर उनमें से एक को दो वर्ष की सजा और दो हजार रुपए जुर्माना ठोक दिया ।

न्याय के नाम पर किए गए अन्याय के इस हास्यास्पद नाटक से स्वभावतः ही तिलक का रोष उबल पड़ा । :के विरोध में आवाज उठाने में उनके पत्र 'केसर'. ने प्रमुख रूप से भाग लिया । उन्होंने इस विषय को लेकर पत्र-व्यवहार द्वारा पार्लमेंट के सदस्य मि० डिग्बी और ब्रेडला तक को खटखटाया । यद्यपि प्रस्तुत मामले पर इस आन्दोलन का कोई अनुकूल असर न पड़ा, फिर भी उससे जनक्षेत्र में तिलक की लोकप्रियता में निश्चय ही काफी वृद्धि हुई । साथ ही ब्रिटिश चरित्र के खोखलेपन तथा न्याय के ढोंग का पर्दाफाश होने के नाते जनजागृति के आन्दोलन को भी उसमे प्रचुर बल मिला !

'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी-जन्मोत्सव'

उपर्युक्त क्राफर्ड-प्रकरण जहाँ ध्वसात्मक विधि द्वारा लोकमान्य के इन दिनों के जनजागृति के लिए किए जानेवाले प्रयासों का एक प्रखर नमूना था, वहाँ उन्हीं के द्वारा क्रमशः १८९३ और १८९४ ई० में पहले-पहल चलाए गए महाराष्ट्र के 'गणेशोत्सव' तथा 'शिवाजी-जन्मोत्सव' नामक महत्वपूर्ण सार्वजनिक त्यौहार उनके रचनात्मक प्रयत्नों के एक उज्ज्वल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं । इन उत्सवों का उद्देश्य, स्पष्टतः धर्म और जातीय गौरव की भावना को जगाकर, बिखरी हुई लोकशक्ति को सुसंगठित होने के लिए सबल रूप से बढ़ावा देना तथा राष्ट्रीयता का एक जबर्दस्त मोर्चा तैयार करना मात्र था । तभी से ये महोत्सव महाराष्ट्र के जीवन के मानो अग जैसे बन गए है । सर वेलेंटाइन शिरोल ने अपनी 'भारतीय अशान्ति' नामक पुस्तक में द्वेषवश महाराष्ट्रियों की उग्र राजनीतिक जागृति में इन उत्सवों का जो प्रमुख हाथ बताया है, वह एकदम निराधार नही है । वस्तुतः एक महान् राष्ट्रवीर के रूप में फिर से शिवाजी की महत्ता प्रस्थापित करने और उनके प्रति सारे देश की श्रद्धा-भक्ति बढाने का प्रमुख श्रेय लोकमान्य ही को है । उन्होंने ही उस महान् राष्ट्र-निर्माता के अमर विजय-स्मारक सिहगढ़ के किले पर मराठा-संतानों को पुनः उसकी याद जगाने के लिए आमंत्रित करके उसकी महानता के प्रति इस युग का ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया था !

सन् १८९५ ई० में तिलक बम्बई प्रांतीय धारा-सभा के सदस्य निर्वाचित हुए । वहाँ भी अपने पहले भाषण ही में सरकारी नीति की कटु आलोचना कर अपनी निर्भीक देशभक्ति का प्रखर परिचय उन्होंने दिया । इन्ही दिनों की बात है कि महाराष्ट्र प्रदेश पर एक भीषण अकाल और प्लेग की महामारी का अभूतपूर्व प्रहार हुआ । इस सिलसिले में बन्दोबस्त के नाम पर पूना और अन्य अनेक स्थानों में गोरे सैनिकों तथा पुलिस द्वारा जनता के साथ अनेक प्रकार की सख्तियाँ और ज्यादतियाँ की गईं । यहाँ तक कि घरों में घुसकर स्त्रियों के साथ छेड़छाड़ करने की भी शिकायतें

सुनने में आई । इस पर तिलक ने स्वभावतः ही एक ओर तो जनकष्ट को दूर करने के लिए गाँव-गाँव में अन्न-वितरण का सार्वजनिक रूप से प्रबन्ध कराने और महामारी से पीड़ित व्यक्तियों की शुश्रूषा के लिए पूना में जनता के चदे से एक चिकित्सालय प्रस्थापित करने जैसे रचनात्मक कार्यों में हाथ लगाया । दूसरी ओर गोरी नौकरशाही और पुलिस की उपर्युक्त ज्यादतियों के खिलाफ अपने पत्र 'केसरी' में विरोध की जोरदार आवाज बुलन्द करके उन्होने जबर्दस्त रोष भी प्रकट किया, यद्यपि इस पर भी अधिकारियों के रवैये में कोई अन्तर पड़ते नही दिखाई दिया ।

राजद्रोह का आरोप और द्वितीय कारावास

इसी समय चाफेकर नामक एक क्रान्तिकारी महाराष्ट्रीय युवक ने पूना में एक रात को प्लैग-कमेटी के चेयरमैन मि० रैण्ड की हत्या कर डाली, जिससे सारे देश में सनसनी फैल गई ! वह युवक यद्यपि बाद मे पकड़ लिया गया और फाँसी के तख्ते पर भी लटका दिया गया, फिर भी सरकार ने इस हत्या का सम्बन्ध तिलक द्वारा उठाए गए जनान्दोलन के साथ जोड़ने की भरपूर कोशिश की । पूर्वोक्त 'क्राफर्ड-प्रकरण' तथा गणेश एव शिवाजी-उत्सवों के सम्बन्ध में भी ब्रिटिश सत्ता तिलक से पहले ही से काफी जली-भुनी थी ही । अतः अनायास ही इस मौके के हाथ लगने पर उन्हें फँसाने के लिए 'केसरी' में लिखित उनके कुछ लेखों को हिंसा की प्रवृत्ति जगानेवाले बताकर तथा इस सारी अशान्ति का मूल दोष उनके माथे मढकर उन पर राजद्रोह का मामला चलाया गया । इस प्रकार न्याय का अपना वही पुराना नाटक रचकर १४ सितम्बर, सन् १८९७ ई०, के दिन देश के इस लाड़ले को डेढ वर्ष की कैद की सजा देकर पुनः कारागार का वासी बना दिया गया !

उन पर किए गए सरकारी दमन-चक्र के इस अप्रत्याशित प्रहार से सारा देश तिलमिला उठा । उनके मुकदमे की पैरवी करने के लिए बगाल के दो प्रख्यात बैरिस्टर आए थे और उनका सारा खर्च उस प्रान्त की जनता ही ने खुशी से अपने ऊपर ले लिया था । इससे अनुमान किया जा सकता है कि महाराष्ट्र की सीमाओ को लाँघकर किस प्रकार उनका प्रभाव अब अखिल भारतीय राजनीनि के क्षेत्र पर व्याप्त हो गया था । यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि यद्यपि उन्हे सजा दी गई थी अठारह महीने के कारावास की, परन्तु वस्तुतः उन्हें जेल में रहना पड़ा केवल एक वर्ष भर ही । इसका कारण यह था कि न केवल भारत ही के कई मित्रों ने प्रत्युत प्रो० मैक्स-मूलर आदि कई योरपीयन विद्वानो ने भी (जिनके कि मन मे उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और वेद-विषयक ऐतिहासिक छानबीन-संबंधी अद्वितीय प्रतिभा के कारण अगाध आदर-भाव समाया हुआ था) उन्हें छुटकारा दिलाने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया था । इस विषय में उन लोगों ने रानी विक्टोरिया तक से अपील की थी ! अन्त में जब जेल से छूटकर वह वापस आए, तो उनके दर्शनार्थ जनता ऐसी उमड़ पड़ी कि दो दिनों में कम से कम दस हजार व्यक्ति भेंट करने उनके घर पर गए होगे !

कांग्रेस में :: नरम दल से टक्कर

इस समय तक नवसंस्थापित कांग्रेस के क्षेत्र में भी, जिसमें कि वह एक अरसे से प्रविष्ट हो चुके थे, लोकमान्य का काफी गहरा प्रभाव जम चुका था । यद्यपि वहाँ अभी फूंक-फूँककर कदम रखनेवाले नरम नीतिवालों का ही बोलबाला था, फिर भी कर्जन की कूटनीति के प्रति देश में रोषपूर्ण प्रतिक्रिया की जो लहर क्रमशः उमड़ने लगी थी, उसकी बाढ के साथ कई के मन मे असदिग्ध रूप से उग्र राजनीति के पथ की ओर अग्रसर होने की भावना भी जगने लगी थी । ऐसे लोगों के लिए तिलक एक स्वयंसिद्ध नेता साबित हुए । उधर बग-भग-विरोधी आन्दोलन का युग आने पर देश के राजनीतिक क्षेत्र मे कुछ सरगर्मी पैदा हुई । उस हवा में कांग्रेस के मच पर एक गरम दल का सगठन कर तिलक देश की इस एकमात्र राजनीतिक संस्था को, निरी वाद-विवाद-समिति की स्थिति से ऊपर उठाकर, मातृभूमि की वास्तविक मुक्तिवेदी में परिणत करने के लिए जूझनेवालो के स्वाभाविक अगुआ बन गए ! परिणामतः ब्रिटिश न्याय और सत्यवादिता की लगातार दुहाई देते रहनेवाले मॉडरेट नेताओं से अब उनकी दिन-प्रति-दिन टक्कर होने लगी । अत में सूरत के सन् १९०७ के तूफानी अधिवेशन में उस आंतरिक सघर्ष ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया कि अगले नौ वर्षों के लिए लोकमान्य के उग्र दल को कांग्रेस से अलग हो जाना पड़ा ।

छः वर्ष का कारावास :: 'गीता-रहस्य'

इधर लोकमान्य की उपस्थिति से निरतर भयभीत सरकार ने 'केसरी' में लिखे गए उनके कतिपय लेखों को राजद्रोहात्मक बताकर पुनः उन्हें गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया। इस बार शासन सत्ता ने उन्हे छः वर्ष के कालापानी तथा १०००) रु० जुर्माने का कठोर दण्ड देकर ही चैन की साँस ली ! पर इस लंबी और कठोर सजा को पाकर भी तपस्वी तिलक के भव्य ललाट पर एक बल तक पड़ते न दिखाई दिया ! उन्होंने केवल यही कहा कि 'यद्यपि जूरी ने मेरे विरुद्ध राय दी है, फिर भी अपनी अंतरात्मा की राय में तो स्पष्टतः मै निर्दोष हूँ ! वस्तुतः मनुष्य की शक्ति से भी अधिक क्षमताशाली दैवी शक्ति है ! वही प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के भविष्य की नियत्रणकर्त्ता है। हो सकता है कि दैव की यही इच्छा हो कि स्वतत्र रहने के बजाय कारागार में रहकर कष्ट उठाने से ही मेरे अभीष्ट कार्य की सिद्धि में अधिक योग मिले !'

इस प्रकार सन् १९०८ में पूरे छः वर्षों के लिए यह महापुरुष पुनः जेल के सीखचो की ओट में हमसे दूर जा बसा। वह स्वदेश की भूमि पर नही, बल्कि हजारों मील दूर बर्मा की प्राचीन राजधानी माण्डले के किले में ले जाकर बद किया गया था ! कहते हैं कि वहाँ उनके रहने के लिए लकड़ी का एक बड़ा कटघरा-सा बनाया गया था, जो मनुष्य तो क्या जंगली पशुओं के भी रहने के योग्य न था ! परन्तु अपने देशप्रेम के हेतु तपोपुज लोकमान्य ने सब-कुछ सहन करना स्वीकार किया। अपने जेल-जीवन के इन कष्टदायी छः वर्षों का भी उन्होंने लोककल्याण के हित के लिए ही उपयोग किया ! क्योंकि इसी अवधि में लगभग पाँच सौ ग्रथो का गहन अध्ययन करके 'कर्मयोग' या 'गीता-रहस्य' नामक अपने अमर ग्रथ की रचना उन्होने की। इस ग्रथरत्न द्वारा भगवान् शकराचार्य के बाद श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का सबसे महान् और विशद भाष्य प्रस्तुत कर, निष्काम कर्मयोग के अमर सदेश के रूप में, अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् देन वह हमें दे गए।

होमरूल-आन्दोलन

उपर्युक्त लंबी सजा की अवधि पूरी होने पर सन् १९१४ ई० में लोकमान्य जेल से छूटकर पुनः स्वदेश वापस आए, तब तक हमारे राजनीतिक आँगन मे जनजागरण का स्वर काफी ऊँचा उठ चुका था। साथ ही महायुद्ध के कारण भी देश का वातावरण एक नया ही रूप धारण कर चुका था। अतः कुछ समय तक तो वह तटस्थ रहकर स्थिति का अध्ययन करते रहे। तब श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ प्रसिद्ध 'होमरूल'-आन्दोलन में जुटकर उन्होने एक देशव्यापी दौरा किया। इस प्रकार अपने व्याख्यानों द्वारा जोरो के साथ उन्होने जनशक्ति का सगठन करना आरभ किया ! इन्ही दिनो १९१६ के प्रसिद्ध लखनऊ अधिवेशन में पूरे नौ वर्ष बाद वह फिर से कांग्रेस में सम्मिलित हुए, जिससे कि देश के राजनीतिक वायुमडल मे पुनः एक सरगर्मी पैदा हो गई।

'शठे प्रति शाठ्यं' की नीति के समर्थक

कहने की आवश्यकता नही कि इस समय राष्ट्रीय पक्ष के सबसे महान् नेता लोकमान्य ही थे, और गाधीजी के दक्षिण अफ्रीका से भारत के तट पर उतर चुकने पर भी, पथप्रदर्शन के लिए सब कोई उन्ही की ओर टकटकी लगाए देखते थे। अतः जब युद्ध मे सहयोग देने का प्रश्न उठा, तो हमेशा से ब्रिटिश सरकार की नीयत में अविश्वास रखनेवाले दूरदर्शी तिलक ने स्पष्ट कह दिया कि यदि कुछ ठोस अधिकार देने का वे वादा करें, तब तो अग्रेजो को इस लड़ाई मे मदद देना सार्थक भी है, वरना यह सब सर्प को दूध पिलाने जैसा ही होगा ! वह तो 'शठे प्रति शाठ्यं' की नीति के प्रबल हिमायती थे और कहा करते थे कि लोहा तभी नरम होकर झुक सकता है, जब कि गरम होने पर उस पर चोट की जाय ! इस बात पर गांधीजी का उनमे गहन मतभेद हो गया, जो बिना किसी शर्त्त के संकट के इस समय मे अग्रेजो की मदद करने के समर्थक थे। परन्तु अत में जब युद्ध समाप्त हुआ और फ्लाडर्स तथा गेलीपोली की रणभूमि में चढाई गई भारतीय युवकों की आहुति के बदले पजाब के भीषण हत्याकाण्ड और मार्शल-लॉ का ही अनोखा पुरस्कार विजय-उपहार के रूप में इस देश को मिला, तब सबकी आँखे खुली और लोकमान्य के कथन का मर्म लोगो की समझ मे आया !

विलायत में

इसी बीच सर वेलेण्टाइन शिरोल द्वारा लिखित 'भारतीय अशान्ति' नामक पुस्तक की अनेक बेहूदी

और ऊटपटाँग बातों के संबंध में मानहानि का दावा दायर करने के लिए तिलक को विलायत जाना पड़ा। अतः १९१८ ई० के दिल्ली-अधिवेशन के लिए राष्ट्रपति चुन लिये जाने पर भी उक्त वर्ष के कांग्रेस-अधिवेशन में वह भाग न ले सके। उनके स्थान में मालवीयजी को सभापति का आसन ग्रहण करना पड़ा। शिरोल के इस मामले ने ब्रिटिश न्याय के खोखलेपन का पर्दाफाश करने में और भी मदद दी। कारण, भारत-सरकार ने तिलक को मुकदमे में हराने के लिए हर तरह से कोशिश की। पुनः ब्रिटिश 'प्रतिष्ठा' की रक्षा के लिए फैसला हमारे चरितनायक के ही विपक्ष में दिया गया! परन्तु लोकमान्य की यह विलायत-यात्रा एकदम निरर्थक न गई। उन्होने मुकदमे से छुट्टी पाने पर अपना शेष समय इंगलैण्ड में यथाशक्ति भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में आंदोलन करने तथा कांग्रेस की लदन-शाखा का सगठन करने ही में व्यतीत किया। उधर पार्लमेंट के मजदूर-पक्षीय सदस्यो में इस देश के प्रति दिलचस्पी पैदा करने की भी उन्होंने सफल कोशिश की।

उनके वापस स्वदेश लौटते ही देश ने एक लाख रुपए की थैली भेट कर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और धूमधाम के साथ उनकी साठवी वर्षगाँठ मनाई। त्यागमूर्ति तिलक ने तत्काल उस थैली की रकम पुनः देशसेवार्थ होमरूल-लीग को भेट कर दी।

इहलोक से विदा

किन्तु देश के भाग्य में वस्तुतः अब अधिक दिनो तक उनका ससर्ग नही बदा था। सन् १९१९ की ऐतिहासिक अमृतसर-कांग्रेस में एक ही राष्ट्रमच पर गांधीजी, मोतीलाल, दास और मालवीयजी के साथ बैठकर उन्होंने लोगों को अपना चिरस्मरणीय दर्शन दिया। इसी समय 'डिमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी' नामक एक नवीन दल की प्रस्थापना की भी उद्घोषणा उन्होंने की! तब छः महीने बाद ही बबई में एका-एक साधारण ज्वर से पीड़ित होकर वह बीमार पड़े और एक सप्ताह के भीतर ही ३१ जुलाई, सन् १९२०, की रात को भगवान् श्रीकृष्ण के 'यदा यदाहिधर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' इन महान् वचनों को दोहराते हुए वह इस नश्वर ससार से विदा हो गए!

इस प्रकार भारतीय राजनीतिक गगन का यह मूर्तिमान् सूर्य अस्त हो गया। उनके शव को पाँच लाख आदमियों ने बंबई के प्रसिद्ध चौपाटी-समुद्रतट तक पहुँचाया। वहीं विशेष सम्मानपूर्वक उनका अंतिम संस्कार किया गया। उनकी अर्थी के साथ थे युग-पुरुष गांधीजी तथा युवक जवाहरलाल नेहरू भी! कहते हैं, उनकी चिता जिस समय पूर्ण रूप से प्रज्वलित हो चुकी थी, उसी समय एक शोकातुर मुसलमान युवक यह चिल्लाता हुआ उसमें कूद पड़ा था कि 'अरे तिलक महाराज, तुम तो जा रहे हो, अब हम कैसे जिएँगें!' बड़ी कठिनाई से उसके झुलसे हुए शरीर को खीचकर आग से बाहर निकाला गया! इससे अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों की निगाह में वह क्या थे! महाराष्ट्र में तो उनके शोक में हजारों परिवारों में दस दिन तक विधिवत् सूतक मनाया गया! ऐसी थी बाल गंगाधर तिलक की लोकमान्यता और ऐसा था इस देश के जनहृदय पर उनका साम्राज्य!

स्वयंसिद्ध महापुरुष

तिलक एक स्वतःसिद्ध जन्मजात महापुरुष थे। उनका चरित्र आरभ ही से ऊँचा उठकर हमारे सामने आया था! हमें गाधीजी जैसे युग-पुरुष तक के जीवन में क्रमिक विकास और व्यक्तित्व के क्रमबद्ध प्रस्फुटन एवं निर्माण की अनेक सीढ़ियाँ दिखाई देती हैं। उन्हें हम काठियावाड़ के एक राजकाज-व्यवसायी घराने के वैभव में अपने बचपन के आरभिक वर्ष बिताने और कुसगति के पंक में फँसने से बाल-बाल बचने-वाले अत्यन्त झेंपू मिजाज के एक साधारण नौसिखिए बैरिस्टर की स्थिति से उठकर, वर्षों दुनिया की ठोकरें खाने के बाद, कही महापुरुष गांधी के रूप में क्रमशः परिणत होते देखते हैं! पर तिलक तो मानो माता के गर्भ ही से अपने प्रखर तेज की संपूर्ण आभा लिये हुए, और आरभ ही से अपने फौलादी व्यक्तित्व की वज्रतुल्य दृढ़ता का अभेद्य कवच धारण किए हुए, इस लोक में अवतीर्ण हुए थे! दूसरे शब्दों में, हम उन्हें उस कोटि के महामानव के रूप में देखते हैं, जिसमें आचार्य शकर, महामति कौटिल्य अथवा महर्षि वेदव्यास प्रतिष्ठित हैं! वह एक जन्मना सिद्ध महापुरुष के रूप में लोक के सन्मुख आए और उसे चमत्कृत कर गए। उन्हें यहाँ आकर अपने 'महा-पुरुषत्व' की सिद्धि के हेतु कोई नया पाठ पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रही, न उनके जीवन में द्वन्द्व का ही भाव कभी रहा। वह तो प्रकट हुए थे आरंभ ही से

एक पर्वतराज की भाँति गगनस्पर्शी ऊँचाई लेकर—एक-एक मंजिल क्रमशः ऊपर उठनेवाली अट्टालिका की तरह नहीं ! इसीलिए तो जहाँ तक कि उनकी चारित्र्यिक दृढ़ता, प्रखर प्रतिभा, राजनीतिक उग्रता, और मातृभूमि के प्रति तन्मयता का सम्बन्ध है, सन् १८८० ई० और १९१९ ई० के तिलक मे कोई विशेष अन्तर हमें नही दिखाई पड़ता। अपने जीवन के आरम्भ से अन्त तक की अर्द्धशताब्दी-व्यापी दीर्घ अवधि भर हम उन्हें एक ही समान ऊँचे स्वर से अपना वज्र-आघोष उद्घोषित करते देखते हैं। इसका यथार्थ रहस्य इसी बात में है कि उनमें ऋषित्व का भाव वस्तुतः आरम्भ ही से इतना विकसित हो चुका था कि काल के पर्दे को भेदकर भावी के गर्भ में छिपे हुए इस महादेश के भाग्य की अदृष्ट रेखाओं को पहली नजर ही में उन्होने स्पष्टतः पढ़ लिया था !

क्रान्तदर्शी राजनीतिज्ञ

तभी तो आज से लगभग पौन शताब्दी पूर्व ही, जब कि हमारे अन्य आरम्भकालीन अग्रनेता हृदय से मातृभूमि की मुक्ति के लिए लालायित होने पर भी तरह-तरह की मृग-मरीचिकाओ के भ्रम-जाल में पड़े हुए थे, उन्होने इस महादेश को गुलामी की बेड़ियों में जकड़े रखनेवाले विदेशी शासको के मायावी कूटनीनि-चक्र की असलियत को सही-सही पहचान लिया था। उन्होने उनके धोखा देनेवाले मीठे वचनों के जजाल में न फँसने के लिए स्पष्ट शब्दों में हमें सचेत कर हमारे उद्धार के उन अमोघ मंत्रों का निर्देश कर दिया था, जिनको अपनाकर हो अंत में हम राजनीतिक स्वातन्त्र्य का अपना स्वप्न पूरा कर पाए ! उन्होने अपनी क्रान्त दृष्टि द्वारा, आरम्भ ही से वस्तुस्थिति की तह में पैठकर, यह परम तथ्य जान लिया था कि हमारे शासक जिस 'न्याय' की दुहाई देते थे, वह शासक और शासितों के बीच का न्याय नही, प्रत्युत स्वयं शासितों के ही एक दूसरे के प्रति 'न्याय' के बर्त्ताव तक सीमित एक ढोंग मात्र था !

इसीलिए बार-बार डंके की चोट पर वह कहा करते थे कि 'यह ध्रुव सत्य है कि इस विदेशी सत्ता ने इस महादेश को बिलकुल बर्बाद कर दिया है। हाँ, आरम्भ में हम सबकी आँखों में उसने चका-चौंध पैदा कर दिया था और हम यही सोचने लगे थे, मानो हमारे ये शासक जो कुछ भी करते है, वह सब केवल हमारे हित के ही लिए किया जाता है ! हम यही सोचते थे कि यह अग्रेजी राज्य मानो आकाश के बादलो से, देवदूत की भाँति, हमें न केवल तैमूरलंग और चंगीज खाँ जैसो के विदेशी आक्र-मणों से बचाने बल्कि, जैसा कि हमारे ये शासक हमें लगातार सिखाते रहे, हमारे अपने देश के भीतरी आपसी कलह से भी बचाने के लिए अवतीर्ण हुआ था ! इस भ्रम में उलझकर कुछ समय तक तो निस्संदेह हम अपने को बड़ा सुखी समझते रहे ! परन्तु शीघ्र ही आखिर यह सत्य हमसे छिपे बिना नही रह सका कि, जैसा कि पूज्य दादाभाई ने एक बार कहा था, जो कथित शान्ति इस देश में प्रस्थापित की गई और हम आपस में एक-दूसरे का गला काटने से जो रोके गए, सो केवल इसीलिए था कि ये विदेशी आकर हम सब का गला काट सके ! वस्तुतः इस देश मे ब्रिटिश साम्राज्य की प्रस्थापना का एकमात्र लक्ष्य ही यह है कि अग्रेज इस भूमि का निरन्तर शोषण कर सकें !'

इसी परम तथ्य की मानो स्पष्ट व्याख्या करते हुए, इस महान् लोकनायक ने हमे साफ-साफ बता दिया कि 'प्रत्येक अग्रेज इस बात को जानता है कि उसके जाति-भाई इस देश मे केवल मुट्ठीभर ही है। अतः उनमें से हर एक अपना यह परम कर्त्तव्य समझता है कि वह यह बात झूठ-मूठ जँचाकर लगातार हमे बेवकूफ बनाता रहे कि हम एकदम कमजोर है और हमारे मुकाबले मे वह परम शक्तिशाली है !' इस प्रकार स्थिति की नग्न वास्तविकता के प्रति हमारा ध्यान खीचकर, उस महान् राष्ट्र-निर्माता ने पहले-पहल इस भुलाई गई शपथ के स्वर फिर से हमारे कानों मे झकृत कर दिए कि 'स्वतत्रता तो मेरा एक जन्मसिद्ध अधिकार है ! जब तक उसका भाव मेरे अतस्तल में जागरूक है, मै बूढा नहीं होने का ! इस भावना को न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न आग उसे भस्म कर सकती है, न पानी उसे गला सकता है, और न हवा उसे सुखा ही सकती है !'

गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने का आह्वान

लोकमान्य के ऋषित्व के सम्बन्ध मे इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या है कि 'स्वराज्य' की प्रस्थापना तथा विदेशी शासन-तत्र के उन्मूलन की माँग से लेकर राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि के रूप मे हिंदी एव देवनागरी की प्रतिष्ठा तक, राष्ट्र-निर्माण

विषयक उन सभी सूत्रों का वर्षों पूर्व ही वह मंत्रोच्चार कर चुके थे, जो कि आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में हमारे नवनिर्माण के प्रधान सूत्र बन गए।

उन्होंने यह साफ-साफ उद्‌घोषित कर दिया था कि 'मै स्पष्टत: यह सकेत-चिन्ह देख रहा हूँ कि ब्रिटिश शासन का गढ़ ध्वस्त होने को है और उसमे विनाश का क्रम शुरू हो चुका है !' इसीलिए तो उच्च स्वर में वह अपने देशवासियों से कहते थे कि 'भारतमाता हम में से प्रत्येक को उठ खड़ा होने और कुछ कर दिखाने के लिए पुकार रही है। मैं नही मानता कि उसके सुपुत्र उसकी इस पुकार पर कान नहीं देंगे !' इसीलिए महायुद्ध के ममय जब अंग्रेज काफी दबे हुए थे, तब उस अवसर से लाभ उठाकर एक झटके के साथ अपनी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए जोरों के साथ उन्होंने हमें ललकारा! उस समय उन्होंने ये चिरस्मरणीय शब्द उद्‌घोषित किए थे:—

'इस स्वर्ण-सुयोग को हाथ से जाने देकर तुम आनेवाली पीढ़ियों का अभिशाप अपने ऊपर ले रहे हो। तुम्हारी इस निष्क्रियता के लिए तुम्हारी भावी पुत्रियाँ और पुत्र ग्लानियुक्त लज्जा का अनुभव करेंगे और आगामी पीढ़ियां तुम्हें कोसेंगी ! अत: साहस से काम लो और जो कुछ करना है, इसी क्षण करो ! लोहा गरम है, तब तक उस पर चोट करने से चूको मत ! सफलता का वरदान तुम्हारे हाथ है !'

काश कि हम उसी समय अपने इस महान् नेता की आवाज पर कुछ कर गुजरते, तो आज से चालीस वर्ष पूर्व ही उस मंजिल पर पहुँच गए होते, जिसके कि लिए बाद में इतने अधिक समय तक हमें लथड़ते रहना पड़ा। उस दशा मे न केवल हमारा ही प्रत्युत सारे संसार का इतिहास कदाचित् कुछ और ही होता !

साक्षात् कौटिल्य के अवतार

तिलक के रूप में भारत ने आज के अपने युग का मानो साक्षात् दूसरा कौटिल्य पा लिया। यह तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण स्वभाव से तो ज्ञानार्जन, सत्य-साधना और एकान्त मनन-चिन्तन ही के लिए प्रकृति द्वारा निर्मित हुआ था। किन्तु स्वदेश की आर्त्त पुकार और स्वतन्त्रता की लगन ने उसे अपने यथार्थ जीवन-क्षेत्र को लाँघकर लड़ाई के मैदान में उतर पड़ने तथा ज्वलंत क्षात्र धर्म को अपनाने के लिए मानो विवश कर दिया था ! उसने अकर्मण्यता और मोह की प्रगाढ निद्रा में सोए हुए इस देश को 'कर्मयोग' का धधकता पाठ पढ़ाकर अपने चरित्र के उदाहरण द्वारा हमें मुक्ति का राजमार्ग दिखाया। साथ ही हमारे अंतस्तल में उसने जगा दिया एक अनूठे स्वाभिमान एवं राष्ट्रीय उत्कर्ष की आकांक्षा का कभी भी न मिटनेवाला भाव !

वह इस युग का हमारा सबसे महान् राजनीतिक गुरु था, जैसे गांधीजी हमारे सबसे महान् सेनानी थे। किसी ने कितना सही कहा है कि 'संसार ने तिलक को सन् १८८० ई० का भारत सिपुर्द किया था और उन्होंने संसार को वापस दिया सन् १९२० का भारत !' उन्होंने ही पहले-पहल 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे,' यह साहसिक घोषणा की। इस प्रकार हमारे राजनीतिक क्षेत्र से उन्होंने भय की भावना भगाकर, निर्भयता-पूर्वक अपने अन्तस्तल में निहित सच्ची राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने का एक उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया ! उन्होंने फूंक-फूंककर कदम रखनेवाले और बात-बात में ब्रिटिश न्याय की दुहाई देनेवाले आरम्भकाल के हमारे राजनेताओं से कोसों आगे बढ़कर, पहले-पहल सिंह-गर्जना के साथ इस देश की आजादी के ध्येय की स्पष्ट रूपरेखा प्रकट की। साथ ही उसे प्राप्त करने के सच्चे पथ की लीक भी उन्होंने प्रस्थापित की, जिसे कि 'उग्र' और 'गरम' कहकर अन्य समसामयिक नेता भय खाते थे !

'महासागर'

उनकी बहुमुखी प्रतिभा का हमें इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए कि जहाँ राजनीति के क्षेत्र में अकेले ही हाथ क्रमश: सभी से लोहा लेकर वह अपनी उस अगम्य ऊँचाई पर पहुँचने में सफलीभूत हुए, वहाँ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में 'गीता-रहस्य' जैसी गंभीर कृति प्रस्तुत करने, पत्रकला के क्षेत्र में 'केसरी' और 'मराठा' जैसे जनपत्रों को जन्म देने, और पांडित्य के क्षेत्र में 'ओरायन' तथा 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' जैसे महान् अनुसंधान-ग्रन्थ संसार के सामने रखने में भी वह समर्थ हुए ! उनकी महानता के परिचय में तो केवल गांधीजी द्वारा उनको दी गई यह सूत्रवत् उपमा ही पर्याप्त है कि लोकमान्य तो थे 'महासागर के समान' ! और आज तक कौन इस दुनिया में कभी महासागर की संपूर्ण गहराई को सही-सही नापने में सफल हो सका है ?

सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी

कांग्रेस के आरभिक युग के नेताओं मे 'बंगाल के शेर' सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। सुरेन्द्रनाथ अपने जमाने में 'देश के बेताज बादशाह' के नाम से पुकारे जाते थे। बगाल के तो लगातार कई वर्षों तक वही सर्वप्रधान राजनीतिक लोकनायक रहे। वह कांग्रेस में पहले-पहल सन् १८८६ ई० में कलकत्ते के द्वितीय अधिवेशन के समय सम्मिलित हुए थे। तब से लगातार कई वर्ष तक उनका उस पर ऐसा आधिपत्य रहा कि चाहे जो भी अध्यक्ष होता, किन्तु प्रत्येक अधिवेशन में आकर्षण के प्रधान केन्द्र रहते थे सदैव सुरेन्द्रनाथ ही!

असाधारण वक्ता

इसका बहुत-कुछ श्रेय उनकी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति को था। उसमें ऐसा कुछ जादू था कि कई लोग तो केवल उनका भाषण सुनने ही के लोभ से कांग्रेस के अधिवेशनो में सम्मिलित होते थे! इस विषय में यदि समसामयिक नेताओं में कोई और उनसे टक्कर लेने की क्षमता रखता था, तो वह था उन्ही के प्रान्त का एक और महान् वक्ता लालमोहन घोष। किन्तु सुरेन्द्रनाथ जनसाधारण को प्रभावित करने में लालमोहन से भी बाजी मार ले जाते थे। उनकी हुङ्कार मे ऐसा बल था कि भारत-सरकार के भूतपूर्व गृह-मत्री तथा कांग्रेस के बीसवे अधिवेशन के अध्यक्ष सर हेनरी कॉटन ने एक बार लिखा था कि 'मुलतान से चटगाँव तक केवल अपनी वाणी के बल पर सुरेन्द्रनाथ चाहें तो एक बलवा खड़ा कर सकते हैं, और चाहें तो भारी से भारी विद्रोह को वह दबा भी सकते है!' निस्संदेह सुरेन्द्रनाथ की कोटि के वक्ता भारत या ससार भर में इने-गिने ही हुए होंगे।

किन्तु केवल अपनी भाषणपटुता ही के कारण उन्होंने हमारे हृदय पर विजय पाई हो, सो बात नही थी। वह अपने समय के एक सच्चे जनसेवक, सुदृढ़ योद्धा और उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने कांग्रेस की प्रस्थापना से कहीं पहले ही देश के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरकर राजनीतिक जागरण के एक अग्रदूत का काम किया था। कांग्रेस में आने के बाद तो वर्षों तक वही उसके कर्णधार-से बन गए। उसके विकास तथा स्वरूप-निर्धारण में उन्होने कुछ कम महत्त्वपूर्ण योग न दिया। वही इतिहास-प्रसिद्ध बंग-भग-विरोधी आन्दोलन के प्राण थे। अपनी सिंह की-सी दहाड़ से स्वदेशी और बहिष्कार के पक्ष में तहलका मचाकर उन्होंने सरकार का दिल दहला दिया था। और तो और, आज से पचहत्तर वर्ष पूर्व ही जेल के उन सीखचों का भी परिचय वह पा चुके थे, जिनसे बाद के दिनों में इस देश के प्रत्येक राष्ट्रभक्त को परिचित होना पड़ा!
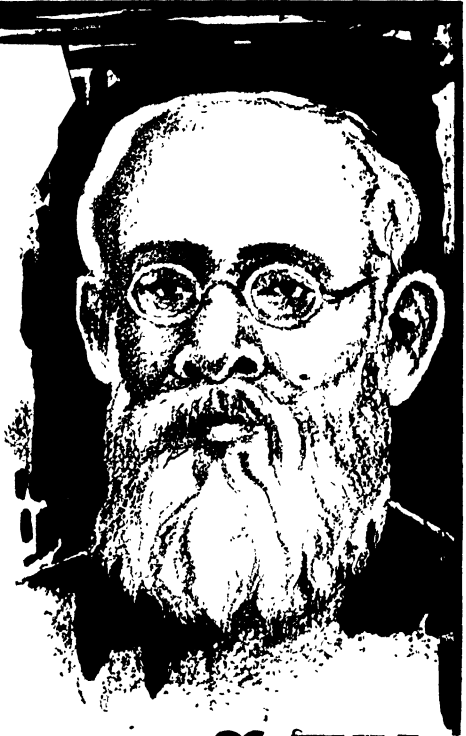
यद्यपि यह सच है कि अपने राजनीतिक जीवन के उत्तरकाल में, जब हमारी राष्ट्रीयता उग्र वेश धारण कर सामने आने लगी, अन्य अनेक नरम नेताओं की

भाँति सुरेन्द्रनाथ को भी नेपथ्य की ओर खिसक जाना पड़ा। वह पहले की तरह नए मोर्चों पर खड़े होकर हमारा नेतृत्व न कर सके। किन्तु इसके लिए हम न तो उनकी विगत महान् सेवाओं को ही भुला सकते है, न राष्ट्रीय जागरण के इतिहास मे उनके निश्चित स्थान को ही हिला सकते है। वस्तुतः भारतीय राजनीति के जिस युग में आकर सुरेन्द्रनाथ को पिछड़ना पड़ा, उसमें संभवतः उनके अपने जमाने के प्रायः सभी उदारनीतिधर्मी नेताओं के लिए पीछे हटना अनिवार्य-सा था। ऐसा प्रायः प्रत्येक युग-परिवर्तन के समय होता आया है और होता रहेगा। क्या इस बात की सभावना न थी कि गांधी, जवाहरलाल या सुभाष के युग तक यदि फीरोजशाह, आनन्दमोहन वसु या गोखले बने रहते, तो उन्हें भी हम सुरेन्द्रनाथ की भाँति शास्त्री या सप्रू की लिबरल श्रेणी में ही खिसकते देखने लगते? फिर भी क्या हम उनकी पहले की सेवाओं और देन को कभी भुला सकते थे?

जनक्षेत्र में किस प्रकार आए

सुरेन्द्रनाथ का जन्म हुआ था १८४८ ई० में और मृत्यु हुई १९२५ ई० में। इस प्रकार दादाभाई की तरह उन्होंने भी इस युग के राजनीतिक उतार-चढ़ाव की कई मंजिले तय करने तथा स्वय अपनी आँखों ही अपने द्वारा बोए गए राष्ट्रीयता के बीजों को क्रमशः फूलते-फलते देखने का अवसर जीवन में पाया! उनके पिता श्री दुर्गाचरण बेनर्जी कलकत्ते के एक प्रख्यात डॉक्टर और प्रगतिशील विचार के व्यक्ति थे। अतः सुरेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की कसर न रहने पाई। वह ज्योंही कॉलेज से ग्रेजुएट होकर निकले, त्योंही आई० सी० एस० के लिए इगलैण्ड भेज दिए गए। वहाँ से लौटने पर तुरन्त ही वह १८७१ ई० में सिलहट (आसाम) के असिस्टेंण्ट मजिस्ट्रेट नियुक्त हो गए।

किन्तु विधि का विधान तो कुछ और ही था! अतः थोड़े ही दिनों बाद अपने शासन-संबंधी कर्त्तव्य-विषयक किसी भूल-चूक तथा सहकारी गोरे अधिकारियों के द्वेष के फलस्वरूप, उन्हें अपनी उस सरकारी नौकरी से हाथ धो लेना पड़ा। जब इंगलैण्ड जाकर स्वयं भारत-मंत्री से इस अन्याय के विरुद्ध अपील करने पर भी कोई अनुकूल परिणाम न निकला--यहाँ तक कि इसी कारण बैरिस्टरी की परीक्षा में भी बैठने से वह रोक दिए गए—तब सरकारी नौकरी अथवा वकालत का मोह त्यागकर वापस स्वदेश आ विशुद्ध सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में वह उतर पड़े। हाँ, भरण-पोषण के लिए उन्होंने कलकत्ते के 'मेट्रापालिटन इंस्टीट्यूशन' नामक शिक्षालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर का पद स्वीकार कर लिया।

अपने इस शिक्षण-कार्य के क्रम में सुरेन्द्रनाथ को देश की उठती हुई पीढ़ी के तरुण पौधो को सींचने का एक स्वर्ण-अवसर मिल गया। उनके अंतस्तल में भीतर ही भीतर आंदोलित नवजागरण की भावनाएँ अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए अब विविध प्रणालियों से अपना स्वरूप प्रकट करने लगीं। उन्होने एक ओर तो 'स्टूडेण्ट्स एसोसिएशन' (विद्यार्थी-संघ) नामक एक सस्था के निर्माण में भाग लेकर, विद्यार्थियों को संगठन के सूत्र मे कसने एवं राजनीति के प्रति उनके मन में आकर्षण का भाव जगाने की ओर कदम बढ़ाया। दूसरी ओर 'भारतीय एकता,' 'इतिहास का अध्ययन', 'मेजिनी का जीवन,' 'चैतन्य-चरित्र', आदि विषयों पर ओजस्वी भाषण देकर, नवयुवकों के हृदय में अपने देश के उत्थान के लिए एक ज्वलन्त चिनगारी पैदा करने का भी जोरों के साथ प्रयास करना आरंभ किया। अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति के बल पर शीघ्र ही न केवल विद्यार्थियों ही में बल्कि कलकत्ते के सारे शिक्षित समाज मे वह इतने अधिक लोकप्रिय बन गए कि विवेकानन्द जैसे उद्भट विचारक तक प्रायः उनके श्रोताओं में बैठे देखे जाने लगे!

'इण्डियन एसोसिएशन'

तब अपने जन-कार्यक्षेत्र की परिधि को और भी विशद बनाने के अभिप्राय से उन्होंने श्री आनन्दमोहन बोस तथा अन्य कुछ उत्साही जनसेवकों के साथ मिलकर 'इंडियन एसोसिएशन' नामक एक संस्था की स्थापना में हाथ लगाया। इस सस्था ने कांग्रेस के जन्म से दस वर्ष पूर्व ही पहले-पहल एक अखिल भारतीय राजनीतिक मंच के रूप में सामने आकर आरंभ के उन दिनों में जनजागरण की पताका फहराने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

इस संस्था के निम्न चार उद्देश्य घोषित किए गए थे—१. देश में एक सशक्त जनमत का निर्माण करना; २. सभी जातियों और वर्गों का राजनीतिक हितों की भित्ति पर एकीकरण करना; ३. हिन्दू-मुसलमानों में बंधुत्व की भावना को बढ़ावा देना; और ४. सभी सार्वजनिक आंदोलनों में साधारण जनता का

सहयोग प्राप्त करना ! यह ध्यान देने की बात है कि इन्ही व्यापक उद्देश्यों को लेकर दस वर्ष बाद अत में कांग्रेस की भी वेदी समुत्थित हुई थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि हमारे चरितनायक तथा उनके सहयोगियों की उन दिनों की सूझ में कितनी अधिक दूरदर्शिता थी ! वस्तुत: अपने इस आरंभिक प्रयास द्वारा उन्होंने मानो सुझाव के रूप में पहले ही से आगे की राजनीति के विकास-क्रम की एक सम्पूर्ण लीक-सी प्रस्तुत कर दी थी !

'इण्डियन नेशनल कान्फरेन्स'

यही नहीं, उन्हीं को पहले-पहल यह बात भी सूझी थी कि सब प्रान्तों के प्रतिनिधि बुलाकर एक अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन किया जाय। उसके दो अधिवेशन भी काग्रेस के आविर्भाव से पहले ही क्रमश: १८८३ और १८८५ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते में 'इडियन नेशनल कान्फरेन्स' के नाम से धूमधाम के साथ उन्होंने करके दिखा दिए ! इसके अलावा देश के सार्वजनिक जीवन में उन तूफानी देशव्यापी राजनीतिक दौरों की परिपाटी जारी करने का भी श्रेय उन्हें ही दिया जाना चाहिए, जो कि बाद के युग में हमारे राष्ट्रीय नेताओं के सग्राम के एक अनिवार्य आवश्यक अंग जैसे बन गए ! उन्होंने ही पहली बार सन् १८७७ ई० में आगरा, लाहौर, अमृतसर, मेरठ, दिल्ली, अलीगढ़, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस आदि उत्तरी भारत के प्रधान नगरों का एक राजनीतिक दौरा किया था। तदुपरान्त अगले वर्ष बम्बई, सूरत, अहमदाबाद, पूना, मद्रास आदि पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत के मुख्य जनकेन्द्रों की भी एक व्यापक यात्रा करके, अपने ओजस्वी भाषणों की बौछार से, जनसाधारण मे एक नवीन राजनीतिक चेतना जगाने का सफल प्रयास उन्होंने किया था। उस युग के लिए समसामयिक नेताओं से मिलकर देश के विविध प्रान्तों की राजनीतिक धाराओं को एक ही विशाल नद में सम्मिलित करने का यह पहला सक्रिय प्रयत्न था।

सन् १८८० ई० में सुरेन्द्रनाथ 'मेट्रापालिटन इंस्टीट्यूशन' से पृथक् होकर 'फ्री चर्च कॉलेज' में अंग्रेजी के प्रोफेसर हो गए। उस पद पर लगभग पाँच वर्ष तक वह बने रहे। तदुपरान्त काफी लंबे अरसे तक वह 'प्रेसीडेन्सी इंस्टीट्यूशन' नामक एक छोटी-सी शिक्षण-संस्था की वागडोर हाथों में लेकर उसकी ही उन्नति और वृद्धि के प्रयास में लगे रहे। उनका यही विद्यालय अत में सुप्रसिद्ध 'रिपन कॉलेज' में परिणत हो गया, जो कि आज के दिन कलकत्ते के एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप में उनकी स्मृति को जगाए हुए है। इन्ही दिनों श्री उमेशचन्द्र बेनर्जी द्वारा सस्थापित प्रसिद्ध 'बंगाली' पत्र का स्वत्व-भार खरीदकर वह जर्नलिज्म (पत्रकला) के क्षेत्र में भी उतर पड़े। इस सिलसिले में १८८३ ई० मे अदालत की कटु आलोचना करने के कारण, मानहानि के अपराध मे, दो महीने के लिए जेल की भी हवा उन्हें खानी पड़ी !

इसके अतिरिक्त लिटन की प्रतिगामी सरकार द्वारा जारी किए गए 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' तथा 'आर्म्स ऐक्ट' नामक दो काले कानूनों के विरोध में एक प्रबल मोर्चा खड़ा करने तथा वैधानिक ढंग से देश की राजनीतिक उन्नति का कार्य करने के लिए एक 'राष्ट्रीय फंड' की योजना बनाने में भी इन दिनों उन्होने उत्साहपूर्वक हाथ बटाया। इस प्रकार कुछ ही समय में न केवल अपने प्रांत ही के प्रत्युत सारे भारतवर्ष के राजनीतिक आँगन मे अपने लिए एक निश्चित स्थान उन्होने बना लिया। तब १८८४ ई० में उत्तरी भारत का फिर से एक लबा राजनीतिक दौरा करके उन्होंने देश को अपनी सिह की-सी दहाड़ से गुँजा दिया ! तो फिर क्या आश्चर्य था कि इसके शीघ्र ही बाद जब नवसस्थापित कांग्रेस का युग आरंभ हुआ, तो देखते-देखते वह उसके एक चोटी के नेता बन गए, साथ ही अपने प्रान्त की राजनीति की भी सारी बागडोर कई वर्षो के लिए उन्ही के हाथों में केन्द्रित हो गई !

'प्रत्येक राष्ट्र स्वयं अपने भाग्य का विधाता हो'

यह एक उल्लेखनीय बात है कि कांग्रेस के मच पर पहले-पहल कदम रखते ही, उन्होंने आज से बहत्तर वर्ष पूर्व कलकत्ते के द्वितीय अधिवेशन में निश्चित शब्दो में यह अपूर्व घोषणा की थी—'स्वशासन प्रकृति की एक स्वाभाविक व्यवस्था है, वह विधि का अमिट विधान है। प्रकृति ने स्वय अपने हाथो अपनी पोथी में यह सर्वोपरि व्यवस्था अकित कर रक्खी है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होना चाहिए !' यद्यपि दादाभाई, फीरोजशाह या गोखले की भाँति जीवन भर वह भी ब्रिटेन के प्रति राजभक्ति का सबंध बनाए रखते हुए ही देशभक्ति की साधना करने के असंगत मार्ग को अपनाए रहे, फिर भी जैसा कि बंग-भंग के आन्दोलन के युग में प्रखर रूप से उन्होंने दरसा दिया था, कभी भी नौकरशाही

की मनमानी नीति के आगे अपने घुटने उन्होंने नही झुकाए। अन्याय के विरुद्ध तो उनकी वाणी सदैव ही आग बरसाती रही! सन् १८९० ई० मे जब कांग्रेस की ओर से एक शिष्ट-मडल (डेपूटेशन) इंगलैण्ड भेजा गया, तो सुरेन्द्रनाथ भी उसमें थे। वहाँ अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति द्वारा इस देश की माँगों के पक्ष में ऐसी जोरदार आवाज उन्होंने बुलद की थी कि एक तहलका-सा मच गया था।

इन्ही और अन्य अनेक सेवाओं के उपलक्ष्य मे पाँच वर्ष बाद पूना में कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन की अध्यक्षता का ताज पहनाकर देश ने उनका यथोचित सम्मान किया। इसके बाद १९०२ ई० के अहमदाबाद अधिवेशन में एक बार फिर राष्ट्रपति की गद्दी को सुशोभित करने का गौरव उन्हे प्रदान किया गया! इन दोनों ही अवसरों पर ऐसे जोरदार और अद्भुत भाषण उन्होने दिए कि लगातार तीन-तीन चार-चार घटे तक लिखित प्रतिलिपि पर एक बार भी नजर डाले बिना वह बोलते ही रहे, पर क्या मजाल था कि मौखिक और लिखित वक्तृताओं में एक शब्द का भी अंतर पड़ जाय!

इसी बीच रिपन के जमाने में नूतन सुधारों के परिवर्तन के फलस्वरूप जब प्रांतीय धारा-सभाओ का विस्तार किया गया, तो वह बगाल-कौसिल के सदस्य भी बन चुके थे। उस पद पर लगभग आठ वर्ष तक वह बने रहे। साथ ही कलकत्ता-कारपोरेशन मे भी चुने जाकर उसके भी एक प्रभावशाली कार्यकर्त्ता वह बन गए थे। इसके अतिरिक्त १८९७ ई० में सुप्रसिद्ध वेल्बी-कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए पुन: कुछ समय के लिए वह विलायत भी हो आए थे। उधर अपने सुप्रसिद्ध पत्र 'बगाली' को एक दैनिक पत्र मे परिवर्तित कर पत्रकला के क्षेत्र में भी सबसे आगे की पंक्ति मे वह प्रतिष्ठित हो चुके थे।

'बंग-भंग' विरोधी आन्दोलन के सूत्रधार

तब आया १९०५ ई० की उस प्रख्यात बग-भंग विरोधी हलचल का जमाना, जिसने हमारे नवजागरण के अनुष्ठान मे एक बिजली-सी दौड़ा दी। अपने प्रांत के सर्वोपरि नेता के रूप मे सुरेन्द्रनाथ ही को स्वभावत: उस आन्दोलन का प्रमुख सूत्रधार बनना पड़ा। उन्होने अपनी दहाड़ से हमारे राजनीतिक वातावरण को प्रकम्पित करके, स्वदेशी और बहिष्कार (बॉयकाट) के अमोघ अस्त्रों के प्रयोग से, सारे बंगाल को गृह-विभाजन की उस गर्हित नीति के विरोध मे इस प्रकार खड़ा कर दिया कि विदेशी शासनतत्र का कलेजा काँप उठा!

इस उमड़ते हुए जनबल का ज्वार रोकने के लिए गोरे शासकों ने जब अपनी सुपरिचित दमन-नीति का आश्रय लिया, तो विरोध की आग और भी अधिक प्रचण्ड हो चली और फलत: देश के राजनीतिक आँगन मे राजशक्ति के साथ जनशक्ति के सघर्ष का एक बिलकुल ही नया रूप उठ खड़ा हुआ। जिस दिन सरकारी घोषणा के अनुसार बंगाल का दो टुकड़ों मे विभाजन होने को था, वह दुर्दिन सारे प्रान्त में एक राष्ट्रीय शोक-दिवस के रूप में मनाया गया! जगह-जगह हड़तालें की गई और लोगों ने मातम जताते हुए अपने घरों मे उस दिन चूल्हे भी न जलाए! कई ने तो उस दिन नगे पैर जाकर गगा-स्नान किया और उपवास तक रक्खा। साथ ही अपनी जन्मजात एकता और अभिन्नता के प्रतीक के रूप मे परस्पर राखी बाँधकर दृढ़तापूर्वक इस कृत्रिम अंग-च्छेद का विरोध करने तथा गृह-विभाजन की इस योजना से लोहा लेने का दृढ़ निश्चय प्रकट किया!

स्वदेशी-आन्दोलन की देन

स्थानाभाववश जनशक्ति के इस अपूर्व उभार के ऐतिहासिक और गौरवपूर्ण अध्याय की सम्पूर्ण रूपरेखा प्रत्याङ्कित करने मे हम यहाँ असमर्थ हैं। केवल यही भर कहना पर्याप्त होगा कि बग-भग-विरोधी इस महान् आन्दोलन ने ही आगे आनेवाले हमारे विराट् जनान्दोलनों की लीक प्रस्थापित की। उसने ही पहले-पहल हमारी राष्ट्रीय शक्ति के सक्रिय प्रयोग का एक प्रखर उदाहरण प्रस्तुत किया। उसने नेताओं को जनता के निकट सपर्क में लाकर, इस देश की आजादी की लड़ाई को कोरे वाक्युद्ध की स्थिति से ऊपर उठाकर, यथार्थ 'रण-संग्राम' में परिणत करने का रास्ता पहले-पहल दिखाया! इसी आंदोलन ने पहले-पहल पुलिस की लाठियों और संगीनों तथा जेल की हथकड़ी-बेड़ियों का परिचय हमें कराया और 'वन्देमातरम्' के राष्ट्रीय गीत का हृदयहारी स्वर घर-घर में गुँजाया! उसी ने विदेशी माल के बहिष्कार द्वारा स्वदेश-प्रेम की लौ जगाकर हमें अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए पहले-पहल प्रोत्साहित किया और अधिकारों के लिए सीना तानकर लड़ने तथा दमन के आगे सिर न झुकाने का पाठ पढ़ाया!

'स्वदेशी की शपथ' और गिरफ्तारी

इसका बहुत-कुछ श्रेय हमारे महान् चरितनायक सुरेन्द्रनाथ को ही था, जो कि इस आन्दोलन का प्रवर्तन और संचालन करनेवाले नेताओं में अग्रणी थे। उन्होंने ही उस युगांतरकारी 'स्वदेशी की शपथ' का प्रवर्तन किया था, जिसके अनुसार हजारों-लाखों की संख्या में लोगों ने विदेशी वस्तुओं का पूर्णतया बहिष्कार करके, अपने दैनिक व्यवहार में केवल शुद्ध स्वदेशी चीजों ही को काम में लेने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार हमारे भावी संग्राम के हेतु एक नवीन शस्त्र की योजना करने के साथ-साथ देश के कुचले हुए उद्योग-धंधों को फिर से अपने पैरों पर खड़ा करने के कार्य में उन्होने एक अनमोल योग दिया था।

उन्होंने विद्यार्थियों को स्कूल-कॉलेज की चहार-दीवारी से बाहर आकर देश के राजनीतिक प्रांगण में कूदने के लिए उभाड़कर तथा पिकेटिंग आदि में भी भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करके दमन पर तुली हुई सरकार के लिए एक टेढ़ी समस्या खड़ी कर दी थी। जब 'वन्देमातरम्' गीत के सार्वजनिक रूप से गाये जाने पर अधिकारियों द्वारा बंदिश लगा दी गई थी, तो इस अन्यायपूर्ण बदिश को तोड़ने के लिए जनता का नेतृत्व कर, बगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के इतिहास-प्रसिद्ध बारीसाल-अधिवेशन में, पुलिस के लाठी-चार्ज का सामना करके गिरफ्तार होने से भी वह नही चूके थे!

गरम दल से टक्कर

किन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में सुरेन्द्रनाथ मूलतः नरम नीति पर चलनेवाले व्यक्ति ही थे—वह एक हद तक ही आग के साथ खेलने के हिमायती थे। स्वभावतः ही क्रान्ति के बजाय वैधानिक ढंग से सुधार के पक्षपाती होने के कारण, वह फूंक-फूंककर पैर रखने की सलाह देनेवाले नेता थे। यही कारण था कि जब भारतीय राजनीति की धारा उग्र बनकर अबाध गति से क्रांति के महासागर की ओर बढ़ते दिखाई देने लगी, तो फीरोजशाह, गोखले आदि अपने युग के अन्य अनेक नरम नेताओं की तरह सुरेन्द्रनाथ भी उसके बहाव का साथ न दे सके। उन्हें तिलक, लाजपतराय, अरविन्द घोष, शिशिरकुमार घोष और विपिनचन्द्र पाल आदि के नेतृत्व में दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही उग्र राजनीतिक प्रवृत्तियों की ज्वाला से काग्रेस के मच को बचाने के लिए अलग से मोर्चा बाँधने को विवश हो जाना पड़ा।

जैसा कि लोकमान्य तिलक का परिचय देते समय पहले कहा जा चुका है, १९०७ के प्रसिद्ध सूरत-कांग्रेस-अधिवेशन में देश के राजनीतिक आँगन के इन तथाकथित 'नरम' और 'गरम' दलों के बीच का व्यवधान और भी अधिक चौड़ा हो गया। उक्त अधिवेशन में लोकमान्य को बोलने से रोकने पर पंडाल में एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ! इस घटना से नरम दलवाले, जिनका कि इन दिनों कांग्रेस पर प्रभुत्व था, चौकन्ने हो उठे। उन्होंने अलग से सभा करके तुरंत ही स्वरक्षा के निमित्त एक नया विधान तैयार कर, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए ही स्वशासन की प्राप्ति करना कांग्रेस का लक्ष्य घोषित करने में कल्याण समझा। इस उद्घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि इस लक्ष्य की सिद्धि केवल विशुद्ध वैधानिक साधनों से ही करना हमें अभीष्ट है।

स्वभावतः उग्र दलवाले काग्रेसियों ने इस निर्णय को मानने से साफ इन्कार कर दिया और फलतः कई दिनों के लिए उन्हें कांग्रेस के मच से एक प्रकार से अलग हट जाना पड़ा। इस प्रकार आगामी दस वर्ष तक कांग्रेस पर फीरोजशाह, गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि मॉडरेट नेताओं का ही निरकुश प्रभुत्व बना रहा।

'आरामकुर्सी के राजनीतिज्ञ' की स्थिति में

परन्तु कांग्रेस के मंच पर अपना दबदवा बनाए रखने पर भी जनक्षेत्र से उनका नेतृत्व दिन-पर-दिन मंद ही होता चला गया। कारण तिलक, लाजपतराय, आदि द्वारा जो सरगर्मी पैदा हो चली थी, उसे दबा पाना किसी के लिए भी अब सभव न था। आखिर सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के समाप्त होते-होते तक तो इस देश की आजादी की लड़ाई ने ऐसा रूप धारण करना शुरू कर दिया कि उसमें सुरेन्द्रनाथ जैसों के लिए अब जगह ही नही रह गई। एक ओर, विशेषकर बंगाल में, आतंकवाद का जोर दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा था, दूसरी ओर श्रीमती एनी बैसेन्ट ने अपना 'होमरूल' आन्दोलन शुरू कर दिया था, जिसे लोकमान्य तिलक का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इस आन्दोलन में हाथ न बँटाने के कारण सुरेन्द्रनाथ की लोकप्रियता को काफी

धक्का लगा। वह एक प्रकार से 'आराम-कुर्सी के राजनीतिज्ञ' की स्थिति में सीमाबद्ध हो गए! अंत में १९१८ ई० में 'नरम' दलवालों ने सदा के लिए कांग्रेस के मंच से अलग हो जाने ही में भलाई समझी। उन्होंने 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' के नाम से एक नई राजनीतिक संस्था की प्रस्थापना करके अपना पृथक् संगठन कर लिया। इस संस्था के पहले अधिवेशन के सभापति सुरेन्द्रनाथ ही बनाए गए। तब से हमारे चरितनायक का राजनीतिक जीवन मुख्य जनप्रवाह से हटकर अब और भी संकुचित घिरौंदे में बद्ध हो गया। अन्य लिबरलों की तरह उन्होंने भी माटेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारों का हृदय से स्वागत किया और उन्हें लागू करने के लिए सरकार का हाथ बँटाने को वह सहर्ष तैयार हो गए! अपनी इसी नीति का अनुसरण करते हुए नवसुधारों के अनुसार निर्मित बंगाल की प्रान्तीय कौंसिल में 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट' (स्वायत्त शासन) के मंत्री का पद भी उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जिन दिनों देश गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग के महान् आन्दोलन का पाठ पढ़कर स्वातंत्र्य-संग्राम के अगले कदम की तैयारी में लगा था, तभी उन्होंने गोरी नौकरशाही के साथ सहयोग करने में औचित्य का अनुभव किया!

राजनीतिक जीवन का उतार और देहावसान

निस्संदेह यह था सुरेन्द्रनाथ के राजनीतिक उतार का सबसे निचला समय। किन्तु अब वस्तुतः न केवल उनकी राजनीति ही की, प्रत्युत उनकी इहलौकिक जीवनलीला के संध्याकाल की भी अंतिम घड़ी समीप आ पहुँची थी। सन् १९२१ में वह 'सर' की उपाधि से भी विभूषित हो चुके थे! इसके दो वर्ष पूर्व कुछ दिनों के लिए एक नरमदली डेपूटेशन के साथ पुनः विलायत की यात्रा भी कर आए थे। तब १९२४ ई० में मंत्रि-पद से निवृत्त होने पर, लगभग एक वर्ष 'ए नेशन इन मेकिङ्ग' शीर्षक अपनी महत्त्वपूर्ण आत्मकथा को संपूर्ण करने और प्रकाशित करने में उन्होंने बिताया। इसके शीघ्र ही बाद ६ अगस्त, १९२५ ई०, के दिन सतहत्तर वर्ष की आयु में सदा के लिए आँखें मूँदकर इस संसार से वह विदा हो लिए! इस प्रकार एक दीर्घव्यापी जीवन का अंत हुआ और उसके साथ ही समाप्त हो गया हमारे इतिहास का एक अध्याय भी!

महान् देशभक्त

सुरेन्द्रनाथ थे अपने युग के भारत के एक असाधारण लोकसेवक। वह हमारी आरम्भिक राजनीति का निर्माण करनेवाले एक प्रभावशाली नेता थे। यद्यपि उनकी विशिष्ट नीति पिछले दिनों में देश की उग्र राजनीति का साथ नहीं दे पाई, फिर भी उनका हृदय तो सदैव ही इस भूमि की भलाई के लिए तड़पता रहा। उनकी देशभक्ति-विषयक उदार भावनाओं की लौ कभी भी मलिन या मंद न पड़ने पाई। वह कितने उदार और ऊँचे विचारोंवाले व्यक्ति थे, इसकी कुछ-कुछ झलक उनकी आत्मकथा के अन्त में उल्लिखित उनके निम्न उज्ज्वल वाक्यों में हमें मिल सकती है, जो कि अपने देशवासियों के नाम उनका अन्तिम संदेश था:—

"हम मानव-जाति के शेष भाग से बिछुड़कर एकदम पृथक् और एकाकी नहीं खड़े रह सकते। हमें सबके साथ घनिष्ट संपर्क बनाए रखते हुए मिल-जुलकर ही चलना होगा—अपने पास जो कुछ देने योग्य है, उसे दूसरों को देते हुए और जो कुछ दूसरों से लेने योग्य हो उसे सहर्ष लेते हुए, जिससे कि मानवीय ज्ञान और अनुभव का सामान्य भाण्डार निरंतर परिवर्द्धित होता रहे। . . . . हमें निरंतर आगे बढ़ते जाना ही होगा—अतीत के प्रति श्रद्धाभावपूर्वक अपनी दृष्टि रखते हुए, वर्त्तमान के प्रति एक महत्त्वपूर्ण अपेक्षा का भाव बनाए हुए और भविष्य के प्रति एक गम्भीर चिन्ता एवं उत्कण्ठा की भावना मन में बसाए हुए।'

सुरेन्द्रनाथ थे वास्तव में दादाभाई या फीरोजशाह की भाँति हमारे राजनीतिक पुनरोदय के पूर्वार्द्धकाल के प्रहरी, उत्तरार्द्ध के नहीं—यद्यपि विधाता ने दीर्घायुष्य प्रदान करके उन्हें गांधीजी के युगारंभ की भी एक झाँकी देखने का सुअवसर दिया था। अतः उनकी महानता की नाप-जोख करते समय विशेष रूप से उनकी उन आरंभिक सेवाओं ही को ध्यान में रखकर हमें उनकी ऊँचाई का अनुमान करना चाहिए, जो कि एक अग्रदूत के रूप में उन्होंने कांग्रेस के बचपन के दिनों में तथा उसके जन्म से भी पूर्व की थीं, न कि उनके उत्तरकालीन राजनीतिक जीवन की विशिष्ट नीति ही को पसन्द या नापसन्द करके, जो नए जमाने के लिए एक बीते युग की बात हो गई थी।

गोपाल कृष्ण गोखले

जब गांधीजी सन् १८९६ ई० में पहले-पहल दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर वापस स्वदेश आए थे, तब भारतीय राष्ट्रीय क्षितिज के तत्कालीन त्रिशिखर रूप श्री फीरोजशाह मेहता, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, एवं महामान्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले, इन तीनों ही नेताओं से बारी-बारी से उन्होंने भेंट की थी। उस समय की अनुभूति का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—'मुझे फीरोजशाह हिमालय जैसे, लोकमान्य समुद्र के समान और गोखले गंगा के तुल्य प्रतीत हुए। इस गंगा ही में मैं नहा सकता था—हिमालय पर चढ़ा नहीं जा सकता था और समुद्र में भी डूब जाने का भय था! गंगा ही की गोद में मैं खेल-कूद सकता था!'

वस्तुतः इससे अधिक मार्मिक और चुभता हुआ परिचय हमें गोखले का अन्यत्र नही मिल सकता। वह सचमुच ही गंगा के समान सबके लिए सुलभ और कल्याणप्रद, साथ ही उस पतितपावनी भागीरथी की भाँति एकदम उज्ज्वलचरित, धवलकीर्त्ति और निर्मल थे। वह थे तो एक सच्चे आदर्शवादी और अपने अंतस्तल की गहराई में जीवन भर आदर्श के ही पुजारी वह बने रहे, किन्तु उनकी आदर्शवादिता व्यावहारिक और इहलौकिक ही थी, निरी स्वप्निल नहीं! उन्होने कभी अपने देशवासियों की महत्त्वाकांक्षाओं की कोई परिधि या सीमा न बाँधी। किन्तु साथ ही साथ संभव और असंभव लक्ष्य का सामयिक अंतर भी उन्होंने अवश्य पहचाना और उसे सदैव अपने सामने रक्खा।

सत्याचरण की मूर्ति

गांधीजी की तरह गोखले के लिए भी सत्य का स्थान जीवन में सर्वोपरि था। वह सत्य के ऐसे कट्टर उपासक थे कि जिस बात को उनकी अंतरात्मा ठीक समझती, उससे तिलभर भी उन्हें कोई डिगा नहीं सकता था। किन्तु इस पर भी उनके स्वभाव में कटुता का लवलेश भी नही पाया जाता था। उनमें कठोर से कठोर बात को भी कोमल से कोमल शब्दों में सार्थकतापूर्वक व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता थी। इसमें संदेह नही कि उनकी महानता का रहस्य उनकी सौम्यता, निष्कपट व्यवहार एवं सत्य आदर्श ही में निहित था। वह त्याग, नैतिकता और सत्याचरण की मूर्ति-से थे और विचार, वाणी एव कर्म तीनों को मानो एक ही तागे में पिरोए हुए थे। उनकी देशभक्ति का तो यह हाल था कि किसी भी सार्वजनिक विषय की चिंता लगते ही उनकी नीद तक हवा हो जाती थी!

ऐसे महापुरुषों का किसी भी देश में पैदा होना ही एक गौरव की बात होती है। उनके कार्यों से भी

अधिक उनका व्यक्तित्व ही राष्ट्र के लिए प्रकाशस्तम्भ बन जाया करता है। यही कारण है कि हमारी राष्ट्रीयता के उग्र वेश धारण कर लेने पर भी उदारनीति-धर्म्मी गोखले बाद को भी हमारे लिए पूज्य और अनुकरणीय बने रहे। गांधीजी ने तो उन्हें एक प्रकार से अपना राजनीतिक गुरु-सा ही मान लिया था और स्वीकार किया था कि 'राजनीति के क्षेत्र में जो स्थान जीते-जी गोखले ने मेरे हृदय में पाया और मरने के बाद भी अब तक पा रक्खा है, वह दूसरा कोई न पा सका !' और तो और जिन्ना जैसे अहम्मन्य और घोर प्रतिक्रियावादी व्यक्ति के भी मुँह से कभी ये शब्द निकलते सुनाई दिए थे कि 'यह मेरी परम आकांक्षा है कि मैं मुसलमानों का गोखले बन सकूँ !' इससे पता चलता है कि सभी के लिए गोखले का नाम उन दिनों आदर्श जननायक के प्रतीक-सा बन गया था।

जीवन की आरम्भिक पृष्ठभूमि

यह एक उल्लेखनीय बात है कि अपने महान् विपक्षी लोकमान्य तिलक की भाँति गोखले का भी जन्म महाराष्ट्र की उस प्रख्यात चित्पावन ब्राह्मण जाति मे हुआ था, जिसमे पेशवाओं से लेकर रानड़े तक पिछली दो शताब्दियों में विविध महाराष्ट्रीय जननायक पैदा हुए है। उनका जन्मस्थान रत्नगिरि जिले के चिपलूण तालुके का काटलुक नामक एक छोटा-सा गाँव था और जन्म-तिथि थी ९ मई, सन् १८६६ ई०। कहते है, जब गोपालराव की उम्र केवल तेरह वर्ष की ही थी, तभी उनके पिता कृष्णराव इस लोक से एकाएक चल बसे थे। फलतः गोपाल का शिक्षाकाल बड़ा ही कष्टपूर्ण बीता। पिता की मृत्यु के कारण उनके बडे भाई गोविन्दराव को अपना पढना-लिखना अधूरा ही छोड़कर कोल्हापुर-राज्य में पन्द्रह रुपए मासिक की एक नौकरी कर लेने को विवश होना पड़ा था। उसी आमदनी में से आठ रुपये प्रति मास बचाकर वह अनुज की पढ़ाई का खर्च चलाते थे।

घोर गरीबी के वातावरण में शिक्षा

विद्यार्थी-काल में गोखले की आर्थिक दशा इतनी अधिक खराब थी कि दिया जलाने तक को पैसा न रहने के कारण, वह प्रायः सड़क के लैम्पों के नीचे बैठकर पढ़ा करते थे ! इसी प्रकार क्रमशः राजाराम कॉलेज (कोल्हापुर), डेक्कन कॉलेज (पूना) और एलफिस्टन कॉलेज (बम्बई) में रहकर उन्होंने सन् १८८४ ई० में अठारह वर्ष की अल्पायु में बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। तब पूना के नवसस्थापित 'न्यू इंग्लिश स्कूल' में ३५) रु० मासिक पर शिक्षक का कार्य करते हुए साथ ही साथ स्थानीय डेक्कन कॉलेज में वह कानून का भी अध्ययन करने लगे।

उनका शिक्षा-सम्बन्धी उत्साह कितना प्रबल और उत्कट था, इसका कुछ अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि कानून की पढ़ाई का प्रथम वर्ष समाप्त होने पर जब फाइनल पढ़ाई के लिए बम्बई के लॉ-कालेज में जाकर पढ़ना आवश्यक हुआ, तो वह अपनी पूना की नौकरी करते हुए ही प्रति सप्ताह रेल से बम्बई की दौड़ लगाकर अपने अध्ययन का वह क्रम जारी रखने लगे ! उधर उनकी सरल रहन-सहन तथा मितव्ययिता का तो यह हाल था कि अपनी ३५) रु० की मासिक आय में से भी काफी रकम प्रति मास बचाकर वह परिवार का ऋण चुकाने के लिए अपने भाई के पास घर भेज देते थे !

महाराष्ट्र की अभूतपूर्व जनजागृति

यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि महाराष्ट्र के लिए यह युग एक अभूतपूर्व जागृति और नवोत्थान की लहर के उभार का युग था। इन दिनो उस प्रान्त के लोगों में अपनी तंद्रा त्यागकर फिर से उठने और आगे बढने की एक जबर्दस्त हूक-सी जग उठी थी। यह वह युग था, जबकि रानड़े, देशमुख, जोशी, चिपलूणकर, तिलक तथा आगरकर आदि कतिपय उत्साही अग्रनेताओं के नेतृत्व में शिक्षा तथा सुधार का एक जोरदार क्रियात्मक आन्दोलन वहाँ शुरू हो चुका था। इस हलचल का प्रधान केन्द्र था पूना, जो कि हर दृष्टि से महाराष्ट्रीय संस्कृति का नैसर्गिक पीठ-स्थान था।

इन्हीं दिनों की बात है कि सुप्रसिद्ध 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की प्रस्थापना करके आजीवन सार्वजनिक सेवा का व्रत लेनेवाले श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, लोकमान्य तिलक और आगरकर आदि महाराष्ट्र के उगते हुए नेताओं ने आत्मत्याग और निःस्वार्थ सेवा की भित्ति पर स्थापित पूर्वोल्लिखित प्रख्यात 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' को जन्म दिया था।

उधर 'केसरी' अथा 'मराठा' जैसे नवोत्थित पत्रों ने भी अपने प्रान्त के जीवन में एक अद्भुत जागृति की लहर उत्पन्न कर दी थी। तो फिर भला युवक गोखले इस विद्युत्मय वातावरण के प्रभाव से क्योंकर अछूते रह सकते थे — विशेषकर उस दशा में जबकि 'न्यू इंग्लिश स्कूल' के एक शिक्षक के रूप में उन्हें इस जागृति के प्रमुख नेताओं के निकट संस्पर्श में आने का नित्य ही अवसर मिलता था ? वस्तुतः अपने शिक्षाकाल ही में उनका हृदय नवजागरण के इस आन्दोलन के प्रति इतने जोरों के साथ खिंच चुका था कि जब प्रसिद्ध 'बरवे-केस' के सिलसिले में 'केसरी' की मदद के लिए चंदा उगाया जाने लगा और इसी उद्देश्य से पूना में कुछ लोगों द्वारा सहायतार्थ एक नाटक खेला गया, तो युवक गोखले ने जी खोलकर उसमें योग दिया था और उस नाटक में उन्होंने सफलतापूर्वक एक स्त्री-पार्ट का अभिनय किया था !

आजीवन सार्वजनिक सेवा का व्रत

अपने इन आरम्भ के दिनों में गोखले लोकमान्य तिलक के प्रकाण्ड व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक आर्काषित हुए थे। जब समय बीतते तिलक का आकर्षण उनकी निगाह में कुछ कम होने लगा, तो उसके स्थान में अब दिन-पर-दिन उन पर आगरकर का प्रभाव बढ़ने लगा। कहते है, आगरकर के आग्रह से ही 'मराठा' के कॉलमों मे लिखना आरम्भ करके हमारे चरितनायक ने सार्वजनिक विषयों पर पहले-पहल कलम चलाना सीखा था। तब आया वह समय, जबकि शिक्षा समाप्त होने पर तिलक और आगरकर ने इस प्रतिभाशाली युवक को सार्वजनिक सेवा की वेदी पर अपने आपको उत्सर्ग कर देने के लिए आमंत्रित किया। उन्होने युवक गोपाल कृष्ण को 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' का स्थायी सदस्य बन जाने के लिए साग्रह पुकारा। उस घडी गोखले के सामने अपने जीवन के सबसे महान् निर्णय का प्रश्न आ खड़ा हुआ ! उनके सामने एक ओर तो थी मातृभूमि की प्रबल पुकार ! दूसरी ओर थी परिवार की माँग ! एक ओर था आजन्म गरीबी का बाना पहनकर, केवल भरणपोषणार्थ अल्प पारिश्रमिक लेकर समाज-सेवा की वेदी पर अपने समस्त सांसारिक सुखों और आकांक्षाओं की बलि चढ़ाने का मार्ग ! दूसरी ओर था वकालत करके अथवा कोई बड़ी-सी सरकारी नौकरी पाकर सदा के लिए अपने आपको तथा अपने परिवार को निर्धनता के उस दलदल में से ऊपर उठाने तथा सुख-समृद्धि की प्राप्ति करने का खुला हुआ द्वार ! वस्तुतः यह था उनके लिए एक विकट अग्नि-परीक्षा का समय ! पर अन्त में वैयक्तिक सुख-समृद्धि के प्रलोभन से मातृभूमि की पुकार और आदर्श के प्रति निष्ठा ही अधिक बलवती साबित हुई। उन्होने ज्यो-त्योकर अपने बड़े भाई की सम्मति प्राप्त कर ली और केवल ७५) मासिक पर वह 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' के सदस्य बन गए। जब १८८५ ई० में सोसायटी द्वारा संचालित 'न्यू इंग्लिश स्कूल' प्रसिद्ध 'फर्ग्यूसन कॉलेज' में परिणत कर दिया गया, तो तिलक और आगरकर की भाँति वह भी उसमें प्रोफेसर के रूप में काम करने लगे। गोखले उसके उच्च वर्गों को अग्रेजी और गणित पढ़ाते थे।

रानड़े के संपर्क में

किन्तु युवक गोखले के इस आरभिक जीवन के आत्मत्याग और 'डेक्कन एजूकेशन सोसायटी' में उनके उपर्युक्त प्रवेश से भी अधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण युगान्तरकारी घटना तो थी स्वनामधन्य महादेव गोविन्द रानड़े के साथ इन्ही दिनों उनका आकस्मिक परिचय होना। इस परिचय के साथ ही दोनों के बीच उस आजन्म गुरु-शिष्य-संबध की स्थापना हुई, जिसके कि परिणामस्वरूप अत में गोखले वास्तव मे आगे आनेवाले गोखले बन सके ! जैसा कि पिछले एक प्रकरण में बताया जा चुका है, न्यायमूर्ति रानड़े इस युग के महाराष्ट्र के अन्यतम प्रकाशस्तंभ थे ! एक सरकारी पदाधिकारी होते हुए भी देश की राजनीतिक और सामाजिक उत्थान-विषयक हलचलों में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से इतनी गहराई के साथ उनका हाथ था कि अपने प्रान्त की राजनीतिक हलचल के एक प्रकार से वह आदि-गुरु कहे जा सकते थे। वह समाज-सुधार के क्षेत्र में तो बहुत ही 'गरम' और उग्र नेता थे, किन्तु राजनीति के आँगन मे सदैव 'मॉडरेट' अर्थात् नरम नीतिवाले ही वह रहे। इसीलिए अपने प्रांत के जनक्षेत्र में उस नवोत्थित युगधारा के एकदम विपक्ष मे वह बने रहे, जो कि इन्ही दिनों लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में महाराष्ट्र मे जोरो के साथ समुच्छ्वसित होने लगी थी। लोकमान्य तिलक की उस उग्र धारा की नीति थी राजनीति के प्राङ्गण में एकदम 'उग्र' या 'गरम' रुख रखते हुए समाज-सुधार के आँगन में फिलहाल धीमी या 'नरम' चाल से चलना !

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह महादेव गोविन्द रानड़े ही का प्रभाव था कि गोखले जीवन भर के लिए एक मॉडरेट राजनीतिज्ञ बन गए। इसी कारण अपने महान् समसामयिक तिलक की राजनीति के साथ उनका कभी भी मेल न हो सका !

गुरु-शिष्य की अनूठी जोड़ी

महामति रानड़े को गोखले के रूप में मिल गया अपना मनचाहा उपयुक्त शिष्य और गोखले ने भी रानड़े में पा लिया अपना सच्चा गुरु एवं पथप्रदर्शक। दूरदर्शी रानड़े ने अपने इस भावी राजनीतिक उत्तराधिकारी की कुशाग्र बुद्धि, डटकर काम करने की अध्यवसायवृत्ति तथा गणितज्ञ की भाँति सूक्ष्म जाँच-परख एवं गवेषणासहित किसी भी विषय का गहन अध्ययन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को तुरंत ही भाँप लिया। इसीलिए आरंभ ही से उन्होंने उसे देश के शासन-तंत्र, अर्थ और राजस्व विषयक जटिल प्रश्नों और तत्संबंधी बारीकियों का आँकड़ों सहित सूक्ष्म अनुशीलन करने में जुटा दिया। इसका सुफल वर्षों बाद आगे चलकर हमारे चरितनायक के भारतीय अर्थ और राजनीति विषयक प्रकाण्ड पांडित्य के रूप में प्रकट हुआ, जिसने कर्जन जैसे वायसराय के भी छक्के छुड़ा दिए !

महादेव गोविन्द रानड़े थे एक अति कठोर शिक्षक। वह केवल काम, ठोस काम ही में विश्वास करनेवाले जीव थे। कोरी बातों से वह कदापि संतुष्ट नहीं हो सकते थे। वह कहा करते थे कि ब्रिटिश नौकरशाही के पेचीदा जंजाल और उसका नियंत्रण करनेवाले कूटनीतिज्ञ विकट मस्तिष्कों से लोहा लेने के लिए उसके शासनतंत्र की मशीनरी और तत्संबंधी पेचीदगियों का गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है। इसीलिए सरकारी प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रति वर्ष प्रकट की जानेवाली समस्त 'नीली', 'लाल' और 'हरी' पोथियाँ तथा दिमाग का पचड़ा निकाल देनेवाले उनके आँकड़ों की तालिकाएँ, लंबे-लंबे नीरस वक्तव्य एवं विविध टीका-टिप्पणियाँ आदि, सभी-कुछ उनकी मेज पर ढेर-की-ढेर लदी रहती थीं। इनमें से कोई भी वस्तु उनके अध्ययन के क्रम में कदापि छूटने नहीं पाती थी !

यह पहाड़-सा काम भला अकेले एक आदमी के बूते का क्योंकर हो सकता था ! इसीलिए खीझकर वह प्रायः कह उठते थे—'कहाँ हैं वे कार्यकर्त्ता, जो कि इस कूड़े को साफ करके आधुनिक भारत की नींव डालें ?' केवल गोखले ही थे, जो उनकी इस पुकार को सुनकर सामने आए। दूसरों ने तो इस काम की हिम्मत ही न की।

जब रानड़े को ऐसा उत्साही और त्यागी कार्यकर्त्ता मिल गया, तो उन्होंने उसे रात-दिन जुटकर उस पहाड़-जैसे काम को निबटाने के लिए शिक्षित करना आरंभ किया। कहते हैं, इतने निर्दय शिक्षक वह थे कि प्रायः तीव्र ज्वर तक की दशा में शिष्य को उस काम से वह आराम नहीं लेने देते थे। वह न केवल उससे इस सारी नीरस सामग्री की छानबीन ही करवाते, प्रत्युत उसके आधार पर अन्त में उससे अखबारों के लिए बड़े-बड़े लेख और गवर्नमेण्ट के नाम लंबे 'मेमोरियल' भी लिखवाते थे ! इनमें से एक को लिखते समय तो बेचारे गोखले को लगातार बाईस घंटे तक एक ही बैठक पर बैठना पड़ा था ! निश्चय ही ऐसे कठोर श्रम का बोझा उठाना असाधारण धीर पुरुष ही का काम था। किन्तु अपने महान् गुरु के प्रति असीम श्रद्धा का भाव रखने एवं मातृभूमि के हित के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहनेवाले गोखले ने कठिन से कठिन काम को भी करने में कभी हिचकिचाहट न की। इसी प्रकार तपश्चर्या करके अंत में पूर्ण रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में नेतृत्व की बागडोर सँभालने के योग्य वह बन सके।

सार्वजनिक जीवन का दौर

१८८८ ई० में गोपाल कृष्ण ने अपने महान् गुरु द्वारा पोषित पूना की तत्कालीन प्रमुख जनसंस्था 'सार्वजनिक सभा' के मंत्रित्व का भार ग्रहण किया। साथ ही 'क्वार्टर्ली रिव्यू' नामक उसके अंग्रेजी मुख-पत्र का संपादन भी वह करने लगे। इन्हीं दिनों की बात है कि 'डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी' के अन्य सदस्यों के साथ गहन मतभेद हो जाने के कारण अपने एक साथी नामजोशी सहित तिलक उससे सदा के लिए अलग हो गए। तभी अपने परम मित्र आगरकर से भी उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में संबंध-विच्छेद कर लिया। फलतः सोसायटी तथा उसके द्वारा संचालित 'फर्ग्यूसन कालेज' की व्यवस्था का अधिकांश भार युवक गोखले के ही कंधों पर आ पड़ा ! उधर जब तिलक तथा रानड़े के दलों में परस्पर विवाद बढ़ने के कारण पूना के सार्वजनिक जीवन में कटुता की मात्रा भी दिन-पर-दिन बढ़ती ही चली

गई, तो उससे भी बेचारे गोखले वंचित न रह सके ! किन्तु इस समय तक वह सार्वजनिक क्षेत्र के एक मँजे हुए खिलाड़ी बन चुके थे । अतः 'केसरी' के कॉलमों में लोकमान्य की लौह लेखनी द्वारा निरन्तर उनके ऊपर प्रहार होते रहने पर भी, वह अपनी ग्रहण की गई विशिष्ट नीति के पथ से विचलित न किए जा सके। इस बीच आगरकर द्वारा निकाले गए 'सुधारक' नामक एक नवीन अंग्रेजी-मराठी पत्र के अंग्रेजी अंश को लिखने का भार भी उन्होंने अपने कंधों पर ले लिया था । उसके कॉलमों में देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं पर गंभीर विवाद छेड़कर तद्-विषयक अपने प्रकाण्ड ज्ञान का प्रखर रूप से वह परिचय देने लग गए थे ।

कांग्रेस में

तभी सन् १८८९ ई० के बंबई-अधिवेशन में पहले-पहल कांग्रेस के भी मंच पर वह उतरे। इसके बाद से उनका व्यक्तित्व अपने प्रांत की सीमाओं को लाँघकर अखिल भारतीय राजनीतिक प्रांगण में भी चमकने लगा । उन्होंने सन् १८९० ई० के कलकत्ता-अधिवेशन में नमक-कर घटाने के सिलसिले में एक जोरदार वक्तृता दी। उसमें उन्होने यह साबित कर दिखाया कि सरकारी टैक्स के भार से किस प्रकार एक पैसे कीमत की नमक की टोकरी पाँच आने की कीमत की बनकर गरीबों के माथे पड़ती है ! इसी प्रकार अगले एक अधिवेशन में सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण के पक्ष में बोलते हुए रोषपूर्वक उन्होंने कहा कि 'सन् १८३३ के कानून की भाषा और १८५८ ई० की घोषणा इतनी स्पष्ट है कि जो लोग उस समय दिए गए आश्वासनों के अनुसार सुविधाएँ देना नहीं चाहते, उन्हें दो में से एक बात, और वह भी बड़े दुःख के साथ, स्वीकार करनी पड़ेगी कि या तो वे मक्कार हैं या दगाबाज ! उन्हें यह मानने के लिए तैयार होना ही पड़ेगा कि इंगलैण्ड ने जब ये आश्वासन हमें दिए थे, तब उसने ईमानदारी से कदापि काम नहीं लिया था !'

दलबन्दी का मुकाबला

यद्यपि उनकी उम्र अभी केवल चौबीस-पचीस साल ही की थी, फिर भी उनकी वाणी में इतना जोर था कि सारे देश की आँखें अब बलपूर्वक उनकी ओर आकर्षित हो चलीं ! इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में उनका सितारा दिन-पर-दिन ऊँचा चढ़ने लगा । किन्तु उनके उत्थान का यह मार्ग बिल्कुल कंटकरहित भी नहीं था । क्योंकि जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है, रानड़े के नरम दल के साथ रहने के कारण, देश के राजनीतिक अखाड़े में तिलक जैसे गरम विचार-वालों के साथ उनकी सदैव गहरी टक्कर होती रही । उनके प्रति उठनेवाले इस विरोध का सबसे प्रबल गढ़ बन गया स्वतः उनका अपना केन्द्र पूना ही । वहाँ वह उतने लोकप्रिय कभी भी नही बन सके, जैसे कि अखिल भारतीय क्षेत्र में वह बनते जा रहे थे । सन् १८९५ ई० में पूना ही में कांग्रेस का अधिवेशन करना निश्चित ठहराया गया और रानड़े के प्रभाव से गोखले ही उसकी स्वागत-समिति के मत्री चुने गए ! उस समय विरोधी पक्ष के हाथों वह बुरी तरह से लथेड़े गए । उनकी ऐसी खिल्ली उड़ाई गई । और उनके राह में इतने रोड़े अटकाए गए कि उनका अति भावुक हृदय राजनीतिक क्षेत्र की दलबन्दी से उत्पन्न इस कड़वी घूँट को पीते हुए एक बार तिलमिला-सा उठा । फिर भी ऐसी बातो से घबड़ाकर उन्होने अपना धैर्य नहीं छोड़ा । वस्तुतः जिस बात को वह ठीक समझते रहे, उससे कटु-से-कटु आलोचना द्वारा भी वह कभी भी डिगाए न जा सके । इस समय तक आगरकर, आप्टे आदि अपने विविध सहयोगियों के एक के बाद एक संसार से उठ जाने के कारण, फर्ग्यूसन कॉलेज तथा 'सार्वजनिक सभा' के संचालन का भार भी उन पर बढता ही चला गया । फिर भी उन्होने अपने कंधों पर लिए हुए काम को कभी भी ढीला न पड़ने दिया । उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर तथा सार्व-जनिक मंच से भाषण देकर जनजागरण के कार्य में योग देते रहना लगातार जारी रक्खा ।

प्रथम विलायत-यात्रा

इसके शीघ्र ही बाद, सन् १८९६ ई० में गोखले अपने महान् गुरु की प्रेरणा से प्रसिद्ध वेल्बी-कमी-शन के समक्ष गवाही देने के लिए दिनशा वाचा के साथ पहली बार इंगलैंड गए। अपनी उस गवाही में ब्रिटिश शोषण-नीति पर निर्भयतापूर्वक प्रहार करके भारतीय राजस्व-विषयक अपने सूक्ष्म ज्ञान का प्रखर परिचय उन्होंने दिया। इससे उन्होंने अंग्रेज राज-नीतिज्ञों का ध्यान गहराई के साथ अपनी ओर खींच लिया। इन्ही दिनों की बात है कि पूना में पहली बार प्लेग की महामारी का प्रकोप हुआ। उसके बन्दोबस्त के

सिलसिले में अधिकारियों द्वारा जनता पर की गई कतिपय ज्यादतियों की अफवाहें सुनकर, गोखले ने विलायत में उनकी अति तीव्र निन्दा की। इससे वहाँ पर सभी क्षेत्रों में सनसनी-सी फैल गई और बम्बई-सरकार से इस सम्बन्ध में जवाब-तलब किया गया। किंतु जब उनके कथित आरोपों के लिए कोई प्रमाण न मिल सका और वे निराधार साबित हुए, तो गोखले बड़े ही शर्मिन्दा हुए। उन्होंने स्वदेश वापस लौटने पर तुरन्त ही बम्बई-सरकार से अपने निराधार वक्तव्य के लिए क्षमा माँग ली ! इस पर उनके विरोधियों ने उन्हें काफी धिक्कारा-फटकारा और उनकी मखौल भी उड़ाई। परन्तु इस बात की तनिक भी परवा उन्होंने नही की ! इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि सच्चाई और ईमानदारी के वह कितने प्रबल उपासक थे !

कौंसिलों में

१८९९ ई० में हमारे चरितनायक ने पहले-पहल बंबई लेजिस्लेटिव कौसिल मे प्रवेश किया। उन्होने प्रान्त की शासन-सम्बन्धी विविध समस्याओ के बारे में अपने मार्मिक अध्ययन, गहन विवाद-शक्ति एवं अनूठी भाषण-प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही उक्त सभा में अपनी गहरी धाक जमा ली। उन्होंने तत्कालीन भीषण अकालों के प्रहार से निपीड़ित प्रान्त की जनता को राहत पहुँचाने के प्रश्न पर प्रान्तीय गवर्नमेन्ट पर जोर डालने में जरा भी कोर-कसर न रक्खी। साथ ही कृषकों के कर्ज, भूमि-कर संबधी ज्यादतियाँ आदि, आदि विषयों पर भी वह कौसिल में लगातार अपनी आवाज बुलंद करते रहे।

इसी समय उनके महान् गुरु और पथप्रदर्शक रानड़े का देहावसान हो गया ! इससे उनके जीवन का मानो एक प्रकाशस्तम्भ-सा छिन गया ! किन्तु जिस कार्य को वह महान् अग्रदूत आरम्भ कर चुका था, उसे उसके निधन के बाद भी योग्य शिष्य ने तनिक भी ढीला न पड़ने दिया। इसके वर्ष भर बाद ही फीरोजशाह मेहता द्वारा रिक्त किए गए स्थान पर गोखले वाइसराय की 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौसिल' के सदस्य नियुक्त हो गए। इस पद पर अपनी मृत्यु-पर्यन्त लगभग तेरह वर्ष तक वह बने रहे। कहना न होगा कि यहाँ आकर उनकी प्रतिभा अब मानो दूने प्रकाश के साथ चमक उठी। इस समय तक देश के राजनीतिक नेताओं में निर्विवाद रूप से सबसे अगली पंक्ति में वह प्रतिष्ठित हो चुके थे। अपनी इस 'इंपीरियल कौंसिल' की सदस्यता के आरंभिक दिनों में उन्होंने अकेले हाथ कर्जन जैसे कूटनीतिज्ञ और प्रतिभावान् शासक से डटकर लोहा लेकर नमक-कर, सैनिक खर्च, यूनिवर्सिटी बिल, सिडिशन बिल, आदि के विरोध में जोरों के साथ अपनी आवाज बुलन्द की। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार को तुरन्त ही नमक-कर घटा देना पड़ा और उनके अन्य कई सुझावों को भी मानने को विवश होना पड़ा। कहते हैं, उनकी इन दिनों की बजट-सम्बन्धी वक्तृताएँ तो इतनी मार्मिक तथा सूक्ष्म जाँच से परिपूर्ण होती थी कि सरकार के लिए उनका जवाब तक देना मुश्किल हो जाता था ! वस्तुत: अब सब कही यही कहा जाने लगा था कि कर्जन का मुकाबला करके स्वय उसके ही अस्त्र-शस्त्रों से उसे मात देने का सामर्थ्य यदि कौसिल में कोई रखता था, तो वह थे महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले ही !

गोखले के हृदय में दीन-हीन निपीड़ित भारतीय किसान के लिए एक जबर्दस्त दर्दभरा स्थान था। उसके हित को ध्यान में रखकर सरकार की कर तथा व्यय-सम्बन्धी नीति में संशोधन कराने की कोशिश में वह कभी भी नही चूकते थे। किन्तु अन्त को विदेशी सरकार की असहानुभूतिपूर्ण नीति से वह भी ऊब-से उठे थे। वह भी यह तथ्य स्वीकार करने लगे थे कि 'नौकरशाही अब खुल्लमखुल्ला स्वार्थी होती जा रही है और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति वह खुलकर शत्रुता का व्यवहार करने लगी है।'

कांग्रेस के अध्यक्ष

सन् १९०५ ई० का साल गोखले के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण साथ ही सबसे अधिक रचनात्मक वर्ष कहा जा सकता है। इसी वर्ष काशी में कांग्रेस के इक्कीसवें अधिवेशन के वह सभापति बनाए गए थे। साथ ही अपने गौरव के चिरस्मारकरूपी उस महान् राष्ट्रसेवी संस्था 'भारत-सेवक-समिति' का भी शिलारोपण इसी वर्ष उन्होंने किया था, जो कि देश को उनका एक स्थायी वरदान है ! यही नहीं, भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में आन्दोलन मचाने के लिए दूसरी बार की अपनी प्रख्यात विलायत-यात्रा भी उन्होंने इसी वर्ष की थी। इस यात्रा में उस सुदूर विदेश में केवल पचास दिनों में लगभग पैंतालिस व्याख्यान उन्होंने दिए थे ! साथ ही अनगिनत लेख भी लिखे थे और पचीसों राजनीतिज्ञों तथा पत्रकारों

से भेंट की थी ! उनके व्यक्तित्व का इंगलैंडवालों पर कितना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था, इसका कुछ अनुमान हम प्रसिद्ध 'नेशन' पत्र के महान् सपादकाचार्य मेसिघम के इन शब्दों द्वारा कर सकते हैं। उन्होने कहा था कि 'गोखले की टक्कर का कोई राजनीतिज्ञ आज के दिन इंगलैंड में नही है !'

अंग्रेजी शासन की कटु आलोचना

इस वर्ष के कांग्रेस के अधिवेशन में अपने सभापति-पद से गोखले ने जो भाषण दिया था, वह उनकी वक्तृताओं में एक विशिष्ट स्थान रखता है। उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्वक कहा था—'सज्जनो, इस तथ्य में कितनी सचाई है कि हर वस्तु का आखिर कभी न कभी अन्त आता ही है! इस प्रकार देखिए कि आखिर लार्ड कर्जन की उस नादिरशाही का भी अन्त आ ही गया !' उन्होंने अपनी इस वक्तृता में कर्जन के शासन की तुलना औरगजेब के शासन से की थी। उन्होंने बंग-विच्छेद को उस जमाने की सबसे बड़ी दुर्घटना बताकर 'वहिष्कार' का अस्त्र संधानने के लिए देश का आह्वान किया था। अग्रेजो के इस कुशासनकाल में देश की जो दुर्गति हो रही थी, उसका खाका खीचते हुए उन्होंने उस समय कहा था—

'इगलैण्ड के शासन में रहते हुए अब हमें लगभग सौ वर्ष हो चुके हैं। फिर भी आज के दिन हमारे प्रति पाँच गाँवों में से चार गाँव पाठशाला या स्कूल से वंचित है और प्रति आठ बच्चों में से सात को अंधकार और अज्ञान की दशा ही में छोटे से बड़ा होने दिया जाता है ! आज तो इस देश की शासन-व्यवस्था द्वारा जनता के सच्चे हितों को पीछे ठेलकर सैनिक सत्ता, नौकरशाही और पूंजीपतियों के हितों ही को पहला स्थान और बढावा दिया जाता है ! और इसके अलावा दूसरी कोई सूरत हो भी तो नही सकती, क्योकि यह है एक देश के लोगों पर दूसरे देश के लोगों द्वारा शासन की दशा, जिसका कि परिणाम प्रसिद्ध विचारक मिल के कथनानुसार घोर बुराइयाँ पैदा होने के सिवा दूसरा कोई हो ही नही सकता !....वस्तुत: एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व, और वह भी उस दशा में जब कि दोनों की बुद्धि-प्रतिभा अथवा सभ्यता में कोई अधिक असमानता न हो, पराधीन जाति को हजार तरह से भयंकर हानि पहुँचाने में ही योग देता है। यदि नैतिक क्षेत्र में देखिए तो आज की हमारी यह स्थिति क्रमशः नवीन रचनात्मक प्रवृत्ति-विषयक हमारी शक्तियों का निरन्तर ह्रास करती जा रही है ! कर्मक्षेत्र में वह हमें एकदम बौना जैसा बनाए दिए चलो जा रही है, और भौतिक क्षेत्र में उसके परिणाम-स्वरूप आज हमारी जनता भयभीत करनेवाली गरीबी के एक गर्त्त में गिर गई है !'

अंतिम दिन

इसके शीघ्र ही वाद ब्रिटिश सरकार के आगे भारत का मामला रखने के लिए वह पुनः विलायत गए थे। वहाँ भारत में प्रचलित दमन-नीति की तीव्र निन्दा करते हुए उन्होने उसकी कड़ी जाँच की माँग की थी। वह प्रस्तावित मिंटो-मार्ले सुधारों के प्रवर्तन के पूर्व तत्कालीन भारत-मंत्री मार्ले से भी मिले थे। उनके समक्ष कई हितकारक सुझाव उन्होने प्रस्तुत किए थे।

गोखले के इस यात्रा से वापस लौटने पर सूरत के तूफानी अधिवेशन में 'नरम' और 'गरम' दलो के बीच की दरार अधिक चौड़ी हो गई। फलतः अगले दस वर्षों के लिए काग्रेस की बागडोर पुनः पूर्णतया मॉडरेटों के ही हाथों मे आ गई। इस समय गोखले ही उसके प्रधान कर्णधार थे। उन्होने देश के विविध प्रान्तो का एक दौरा करके राजनीतिक आँगन में एकता की स्थापना करने का जोरदार प्रयत्न किया। पर इस कार्य में वह सफल न हो सके।

इसी कालावधि में प्रवासी भारतवासियों की परिस्थिति की जाँच के लिए वह दक्षिण अफ्रीका भी हो आए। वहाँ गांधीजी से परिचय प्राप्त कर उनके सत्याग्रह-संग्राम में महत्त्वपूर्ण सहायता उन्होंने दी। वहाँ से वापस भारत लौटने पर सत्याग्रह की प्रशसा में हार्दिक उद्‌गार प्रकट करते हुए उन्होने उसकी आध्यात्मिक महिमा की ओर विशेष रूप से देश का ध्यान खीचा था। यही नही, गांधीजी द्वारा प्रर्वतित दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम की मदद के लिए लाखो रुपया चदा भी उन्होंने जमा करवाया था ! अत: अनुमान किया जा सकता है कि यदि वह अधिक दिनों तक जीवित रहते तो महात्माजी के भावी संग्राम के प्रति उनका क्या रुख होता !

परन्तु विधाता को मंजूर न था कि यह महान् जनसेवक और अधिक काल तक हमारे बीच रहता ! १९१४ ई० में गोखले पुनः कुछ समय के लिए योरप गए। परन्तु इसी बीच बड़ी लड़ाई छिड़ गई। अतः

शीघ्र ही उन्हें वापस स्वदेश लौट आना पड़ा। इसके वर्ष भर बाद ही १९ फरवरी, १९१५ ई०, के दिन ४९ वर्ष की आयु में वह इस संसार से सदा के लिए विदा हो लिए! मृत्यु के समय अपने एक मित्र से उन्होंने कहा था—'जीवन की यह बाजू तो मेरे लिए सुखद रही! समय आ गया है कि अब मैं चलूं और देखूं कि दूसरी बाजू कैसी है!'

'भारत के हीरे :: देशभक्तों में शिरोमणि'

गोपाल कृष्ण गोखले थे वस्तुतः कांग्रेस के मॉडरेट-युग के एक महान् राष्ट्रनायक! वह दादाभाई, फीरोजशाह मेहता और रानडे की परंपरा के राजनीतिज्ञ थे। वह भारत में ब्रिटिश शासन का एकदम अंत करने के बजाय उसके तत्त्वावधान में रहते हुए ही स्वाधीनता की प्राप्ति करने का स्वप्न देखते थे। वह लोकमान्य तिलक जैसे विद्रोह का मंत्र फूंकनेवाले क्रान्तिकारी लोकनेता अथवा गांधीजी की भाँति सीधी कार्रवाई करनेवाले सेनानी नहीं थे। प्रत्युत वह थे शत-प्रतिशत केवल वैधानिक ढंग से कौंसिलों, व्यवस्थापिका सभाओं एवं पब्लिक प्लेटफार्मों पर अपनी वाक्शक्ति के बल पर देश की लड़ाई लड़नेवाले एक महान् 'पार्लमिंटेरियन'।

यह सच है कि अपने युग की उग्र प्रवृत्तियों का साथ न दे पाने के कारण, वह उस दर्जे तक जनता के हृदय के हार न बन पाए, जैसे कि उनके महान् समसामयिक लोकमान्य तिलक अथवा उनके बाद आनेवाले युगपुरुष गांधीजी बन सके। फिर भी अपने जमाने में देश के लिए जो कुछ भी उन्होंने किया, वह कोई कम मूल्यवान् कार्य न था। उनका व्यक्तित्व तथा निष्कपट चरित्र तो हमारे लिए सदैव एक उज्ज्वल शिक्षापाठ बना रहेगा। उनके सबसे प्रबल आलोचक स्वय लोकमान्य ने भी उनकी मृत्यु पर कहा था कि वह थे सचमुच ही 'भारत के हीरे, महाराष्ट्र के रत्न और देशभक्तों में शिरोमणि।' यदि और कुछ नहीं तो उनके द्वारा प्रस्थापित आजन्म देश-सेवा और त्याग का व्रत लेनेवाले चुने हुए लोकसेवकों की वह टोली 'भारत-सेवक-समिति' ही उनके नाम को हमारे इतिहास में चिरस्मरणीय बनाए रखने के लिए पर्याप्त होगी!

अन्त में इस राष्ट्र-निर्माता के महान् चरित्र और जीवनादर्श पर प्रखर प्रकाश डालनेवाले उसके एक प्रसिद्ध जीवनचरित्र-लेखक श्री० शाहनी के निम्न उल्लेखनीय शब्दों को उद्धृत कर उसकी इस लघु प्रशस्ति को हम समाप्त करते हैं:—

'गोखले ने जनता को ठकुरसुहाती बातें सुनाकर न तो कभी उसकी चापलूसी की, न कभी उसका अनुसरण ही किया! हाँ, यह अनुभव उन्होंने अवश्य किया कि कोई भी राजनेता एक हद से आगे जनसाधारण की मंशाओं के विरोध में नहीं टिक सकता! प्रत्येक को कुछ छोटी बातों में उनका खयाल करना ही पड़ता है, ताकि बड़ी बातों में वह उन्हें अपने साथ ले सके। किन्तु तुच्छ से तुच्छ बातों में भी, जहाँ कि सिद्धान्त का सवाल उठ खड़ा होता था, कभी भी न तो सरकार के आगे और न अपने साथियों के सामने ही घुटने टेकने को वह तैयार हुए। इस दृष्टि से वह किसी के अनुगामी होने के बजाय, कहीं अधिक सार्थक भाव से एक नेता थे। वह अपनी दृढ़ भावनाओं के झोंके में कभी-कभी यहाँ तक की गलती कर बैठते थे कि जनमत की नब्ज पर लगातार अपनी उँगली बनाए रखने से भी चूक जाते थे!

'वह कभी-कभी इस तथ्य को भूल जाते थे कि उनके अनुगामियों की विचारधारा उनकी अपनी विचारधारा का साथ नहीं दे पा रही है। वस्तुतः वह ऐसे एक व्यक्ति थे कि लोगों ने तो अवश्य उनसे विचार ग्रहण किए, पर स्वयं उन्होंने उनसे कभी आदेश नहीं लिया।.......उन्हें तो जनता का मुँह देखकर उसके रुख के अनुसार चलने से हार्दिक घृणा थी, साथ ही आक्रामक प्रवृत्ति को जगानेवाले मनोभावों को उभाड़ने के खतरे से भी वह सदैव सतर्क रहते थे। उन्हें तो हर घड़ी अपने महान् गुरु का यह सूत्र याद रहता था कि नवजाग्रत राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना की प्राणधारा है राष्ट्रीय नैतिकता का मानदण्ड सदैव ऊँचा बनाए रखना। हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिसके कारण अंत में हमें शर्मिन्दा होना पड़े, यही उसका परम आदर्श-सूत्र था—स्वयं अपने लिए भी और अपने देश के लिए भी!'

यदि राष्ट्र-पिता गांधीजी के मन में गोखले के लिए इतना अधिक सम्मान का भाव हमने देखा, तो इसका एकमात्र रहस्य इसी बात में निहित था कि सत्य के उस महान् उद्गाता की भाँति हमारे आरंभकाल के इस नेता की भी सारी राजनीति नैतिकता ही की नींव पर प्रस्थापित थी। इसीलिए तो गांधीजी ने उनकी तुलना गंगा से की थी, जो पवित्रता की प्रतीक है।

मदनमोहन मालवीय

उज्ज्वलचरितयुक्त धवलवेशधारी सौम्यमूर्ति सात्विक ब्राह्मण तर्क और बुद्धिवाद के इस जमाने में भी पुनः श्रद्धा और भावना का नारा बुलन्द करते दिखाई देता था । प्रयाग से काशी तक गंगा-तट पर फिर से ऋषियों के आश्रमों और तपोवनो की प्रस्थापना के स्वप्न वह देखता था । साथ ही अपने हृदय की तह में धधकती हुई देशभक्ति की आग से तड़पकर मातृभूमि की मुक्ति की लड़ाई में भी वह किसी से पिछड़ना नही चाहता था !

यह सच है कि नई पीढी को उसकी वह आवाज एक गए-गुजरे जमाने की पुकार-सी लगती थी । उसका जीवन परस्पर-विरोधी धाराओं के अनवरत संघर्ष से युक्त एक अनोखी पहेली-सा प्रतीत होता था ! यह भी संभव है कि दिन-पर-दिन उमड़ते चले आ रहे क्रांति के ओघ के भैरव रव में एक दिन उसका वह अतीत की ओर लौट चलने का स्वर सदा के लिए अतर्लीन हो जाय ! संभव है, हम उसके सपनों के साथ ही भूल जाएँ उसके हृदय और मस्तिष्क के संघर्ष की अनोखी कहानी भी ! किन्तु कभी भी क्या हमारे लिए यह संभव होगा कि हम उसकी अर्द्धशताब्दी-व्यापी महान् सेवाओं, उसके मोहक व्यक्तित्व, निर्मल चरित्र, मीठी वाणी, अचल निष्ठा, अनवरत संग्राम और असामान्य भावुकता को अपने स्मृतिपट से मिटा सकें ?

पचासी वर्ष की अपनी दीर्घ आयु के साठ से भी अधिक वर्ष देशसेवा की वेदी पर उत्सर्ग करनेवाले पंडित मदनमोहन मालवीय वह महाप्राण व्यक्ति थे, जो अपने पावन चरित्र, विमल आचार और सौम्य व्यक्तित्व द्वारा इस बीसवी सदी के कोलाहल से भरे भौतिक युग में भी हमें पुराणों में वर्णित सतयुग की याद दिलाते थे ! स्व० श्री चिन्तामणि के शब्दों मे, इस देश के समसामयिक लोकनेताओं में मालवीयजी का स्थान केवल गांधीजी से ही दूसरे नंबर पर था । वही एक ऐसे महापुरुष थे, जो साबरमती के उस महान् संत के समकक्ष बिठाए जा सकते थे ! यह

महामना मालवीयजी न तो गांधीजी जैसे युग-स्रष्टा ही थे, न लोकमान्य, देशबन्धु या मोतीलालजी की कोटि के कट्टर-कुशल राजनीतिज्ञ ही। वह तो, जैसा कि स्व० चिन्तामणि का मत था, 'नख से शिख तक केवल भावनाओं की मूर्ति' थे—शत-प्रति-शत हृदय ही हृदय ! किन्तु इसीलिए तो वह हमारे पूज्य बन गए ! इसीलिए तो जब तक वह हमारे बीच रहे, हम न तो उनकी वाणी के जादू का ही लोभ संवरण कर सके, न उनके प्रति आदर से शीश झुकाए बिना ही कभी रह सके !

शत-प्रति-शत भावना-मूर्ति

मालवीयजी का जीवन हमारे देश की गौरव-प्रशस्ति के आधुनिक सर्ग का एक पूरा पृथक् अध्याय है। वह इतना लम्बा-चौड़ा और सर्वतोमुखी है कि उसका विस्तारपूर्वक सपूर्ण विवरण देना यहाँ सम्भव नही है। अकेली कांग्रेस के साथ ही उनका साठ वर्ष का सुदीर्घ सम्बन्ध रहा है। इसके अलावा काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, हिन्दू-महासभा, सनातन-धर्म-महासभा, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, ब्राह्मण-महासभा, गोरक्षा-आन्दोलन, सेवा-समिति आदि और भी न जाने कितनी ही सार्वजनिक सस्थाओं और हलचलो के भी वह प्राण रहे ! यदि उनकी समस्त वक्तृताओं का ही संकलन किया जाय, तो संभवतः इस युग का एक दूसरा महापुराण तैयार हो जाय !

सबसे बडी कठिनाई तो यह है कि उनके सार्व-जनिक जीवन की कहानी इतनी बेजोड़-सी प्रतीत होनेवाली विषमताओं से भरी पडी है कि उसको एक ही सुसंगत तारतम्य में बैठाना कोई आसान काम नही। उदाहरण के लिए, विगत अनेक वर्षों से कांग्रेस में एक के बाद एक उच्छ्वसित क्रान्तिमूलक उग्र युग-धाराओं के प्रायः विपक्ष में खड़े रहकर भी उन्होने हर हालत मे लगातार उसके मच के साथ अपने आपको सलग्न बनाए रखा। कई मामलो मे एक जाति विशेष के हित की आँखों से ही देश की राज-नीनिक गतिविधि को देखते-परखते रहते हुए भी, वह हमें अन्य लोकनायकों के साथ निरंतर राष्ट्रीयता की जनवेदी पर अग्रिम पंक्ति में बैठे दिखाई देते रहे ! उनके सार्वजनिक जीवन की इस बहुमुखी विशेषता को देखकर हमें दग रह जाना पड़ता है !

अतीत के अनन्य पुजारी

परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो इस तपोनिष्ठ वृद्ध ब्राह्मण की जीवनधारा में हमें एक अटूट संतत प्रवाह भी दिखाई देता है—उसका अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व और दृष्टिकोण रहा है और उसके आदर्शों की भी सदैव एक सुनिश्चित नपी-तुली रूपरेखा रही है। वह था वस्तुतः रूढ़िगत पुरातन परंपराओं, विशेषकर प्राचीन हिन्दू-संस्कृति और गौरव का एक अनन्य पुजारी। वह प्रायः वर्त्तमान को फिर से अतीत की ओर ले चलने का ही स्वप्न जीवन भर देखता रहा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि वह देश की सामयिक प्रगति का विरोधी रहा हो। वस्तुतः उसकी रूढ़ि-वादिता अधिकांश में धर्म और समाज ही के क्षेत्र तक सीमित थी। यदि राजनीति के आँगन में वह प्रायः 'नरम' ही रहा, तो इसका कारण कुछ तो उस पर अमिट रूप से पड़े हुए इस देश के आधुनिक राजनीतिक इतिहास के आरम्भकाल के वे संस्कार थे, जिनकी छाप ने सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, दिनशा वाचा, आदि अन्य अनेक समसामयिक नेताओं को भी समय आने पर उग्र राजनीतिक धारा से एक प्रकार से अलग कर दिया था। इसके अलावा हिन्दू-धर्म और संस्कृति की सुरक्षा-विषयक उमके अपने वे प्रगाढ़ विचार भी थे, जिनके कि सम्बन्ध में कभी भी समझौता करने को राजी न हो पाने के कारण प्रायः वह हमारी आज की राजनीति का साथ नहीं दे पाया।

अंतस्तल की भावनाओं के प्रति अचल निष्ठा

जो कुछ भी हो, उसकी अपनी इन विशेषताओं में ही इस महापुरुष की महानता का तत्त्व भी निहित था। वस्तुनः, जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार ने लिखा है, मालवीयजी ही एक ऐसे अकेले व्यक्ति थे, जिनमें इतना साहस था कि जिस बात को वह ठीक समझते, उसके लिए चाहे कोई भी उनका साथ न देता, फिर भी वह अकेले ही मैदान में खम ठोंककर डटे रहते थे ! अपनी आंतरिक भावनाओं के प्रति एक असाधारण निष्ठा का यह साहसपूर्ण अडिग उदाहरण प्रस्तुत करना कोई साधारण बात नहीं थी—वह विरले ही व्यक्तियों में पाया जानेवाला एक विशिष्ट गुण था ! इस वृद्ध लोकनायक ने आजीवन पुरातन ही की भक्ति में लीन रहकर भी नवीन भारत के निर्माण में अपने अन्य समसामयिक राष्ट्रनेताओं से किसी दर्जे कम महत्त्वपूर्ण भाग न लिया। और कुछ नही तो उसकी अमर कृति 'हिन्दू-विश्वविद्यालय' तो निश्चय ही इस देश के उत्थान के महान् यज्ञ के प्रांगण में एक ऐसी स्थायी देन है कि जिसकी समानता के बृहत् रचनात्मक सार्वजनिक प्रयास का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत होते अभी काफी समय लगेगा।

आरम्भिक जीवन

पं० मदनमोहन मालवीय का जन्म हुआ था आज से सत्तानवे वर्ष पूर्व २५ दिसंबर, सन् १८६१ ई०,

के दिन ठीक महात्मा ईसा मसीह के जन्म-दिवस पर इलाहाबाद के एक ब्राह्मण-परिवार में। जैसा कि 'मालवीय' शब्द से स्पष्ट है, उनके पूर्वज यथार्थ में किसी जमाने में कालिदास और विक्रम की महिमा-मयी भूमि मालवा के रहनेवाले थे। वही से आकर पिछले कुछ दिनों से गंगा-यमुना के तट पर तीर्थराज प्रयाग में वे आ बसे थे! उनके पिता पं० ब्रजनाथ एक अनन्य कृष्णभक्त तथा संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। उनके द्वारा आरोपित प्रगाढ़ पैतृक संस्कारों ही का यह प्रभाव था कि मदनमोहन जीवन भर एक सुदृढ़ आस्तिक एवं संस्कृत तथा श्रीमद्‌भागवत जैसे भक्तिग्रंथो के अनन्य अनुरागी बने रहे।

युवक मदनमोहन की शिक्षा-दीक्षा प्रयाग ही में हुई—वह स्थानीय 'धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला', 'विद्या-धर्मप्रवर्द्धिनी सभा' द्वारा संचालित 'संस्कृत-पाठशाला', इलाहाबाद के 'जिला-स्कूल' एव सुप्रसिद्ध 'म्योर सेंट्रल कॉलेज' की सीढियाँ लाँघकर सन् १८८४ ई० में बी० ए० की उपाधि से विभूषित हुए। इसके बाद कुछ समय तक स्थानीय गवर्नमेन्ट स्कूल में वह अध्यापक का कार्य करते रहे।

कांग्रेस के मंच पर

तब सन् १८८६ ई० में अपने गुरु श्री आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ वह कलकत्ते में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में सम्मिलित होकर पहले-पहल राजनीति के क्षेत्र में उतरे। वहाँ अपनी असाधारण वक्तृत्व-शक्ति के बल पर पहले ही मोर्चे में उन्होंने ऐसी धाक जमाई कि उस वर्ष के अधिवेशन की रिपोर्ट में कांग्रेस के संस्थापक तथा तत्कालीन मंत्री श्री० ह्यूम के निम्न उल्लेखनीय शब्द अकित हैं—'जिस भाषण के लिए पण्डाल में कई बार करतल-ध्वनि हुई और जिसे श्रोताओ ने बड़े उत्साह के साथ सुना, वह था पंडित मदनमोहन मालवीय का भाषण!'

उन्होंने इस वक्तृता में कहा था—'मुझे अचरज होता है यह देखकर कि किस प्रकार अंग्रेज कहलाने-वाले हमारे ये नाम-मात्र के प्रभु अपने आपको अग्रेज कहने का साहस करते हैं, और साथ ही साथ हमें अपनी प्रतिनिधि जनसस्थाओं तक का अधिकार देने से इंकार कर, हमारे ऊपर अपना निरकुश शासन कायम रखने के लिए निरतर सघर्ष करते रहते हैं!...बिना प्रतिनिधित्व के कर नही लगाया जा सकता, यह अंग्रेजों की राजनीतिक बाइबिल का पहला सूत्र है, फिर भी वे अपनी अंतरात्मा के साथ खिलवाड़ करके हमारे ऊपर इस प्रकार टैक्सों का बोझ लाद रहे है, मानो हम मूक पशु हों!'

वकील और पत्रकार

दैवयोग से इसी अधिवेशन में कालाकाँकर के विद्याव्यसनी राजा स्वर्गीय रामपालसिह भी उपस्थित थे। राजा साहब की निगाह में यह चौबीस-पचीस वर्ष का असाधारण प्रतिभासम्पन्न सौम्य युवक ब्राह्मण बेतरह चढ गया। उन्होने उसे अध्यापकी छोड़कर उन्ही दिनो निकाले गए अपने 'हिन्दुस्तान' नामक हिन्दी दैनिक पत्र का सपादक बनने को विवश किया। इस प्रकार युवक मदनमोहन शिक्षा के क्षेत्र से अख-बारी और राजनीतिक दुनिया मे प्रविष्ट हुए। साथ ही श्री ह्यूम, प० अयोध्यानाथ, प० सुन्दरलाल आदि के अनुरोध से उन्होने कानून भी पढ़ना आरभ किया। एल-एल० बी० की डिग्री पा लेने पर १८९३ ई० मे अपने ही नगर प्रयाग मे उन्होने विधिवत् वकालत करना भी शुरू कर दिया।

किन्तु एक सफल वकील बनने की असाधारण क्षमता रखते हुए भी मालवीयजी ने इस क्षेत्र में अपने आपको कभी भी पूरी तरह तल्लीन नही किया। उन्हें तो धन कमाने या सांसारिक उत्कर्ष प्राप्त करने से कही अधिक मातृभूमि की सेवा करने की एक उत्कट लगन लगी थी! और सच मे वह निर्मित भी हुए थे केवल सार्वजनिक जीवन के लिए ही। उनके मन मे आरभ ही से लोकसेवा की प्रबल धुन समाई हुई थी। इसका किंचित् परिचय अपने विद्यार्थी-जीवन ही मे 'इलाहाबाद लिटररी इस्टीट्यूट', 'स्वदेशी तिजारत कं०', तथा 'हिन्दू-समाज' जैसी सस्थाओ की प्रस्थापना द्वारा वह दे चुके थे।

अत: जब से उन्होने कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन मे सम्मिलित होकर उसकी कार्रवाई मे अधिकाधिक दिलचस्पी लेना शुरू किया, तब से उनका नाम देश के राजनीतिक क्षेत्र मे दिन-पर-दिन जोरों के साथ प्रकाश में आने लगा और हर कही उनकी मधुर वक्तृताओं की धूम मचने लगी। इस बीच 'हिन्दू-स्तान' के उपरान्त प० अयोध्यानाथ द्वारा स्थापित प्रयाग के अग्रेजी पत्र 'इंडियन ओपीनियन' के संपा-दन मे भी उन्होने हाथ बँटाया। कालातर मे प्रयाग ही से हिन्दी मे 'अभ्युदय' नामक एक साप्ताहिक तथा 'मर्यादा' नामक मासिक पत्र भी उन्होंने निकाला और

इसके कुछ ही अरसे बाद 'लीडर' के नाम से एक अंग्रेजी दैनिक की प्रस्थापना में भी योग दिया। इस प्रकार क्रमशः अपने प्रांत के सार्वजनिक जीवन की अधिकांश बागडोर उन्होंने अपने हाथों में ले ली। तो फिर क्या आश्चर्य था यदि देखते-देखते वह देश के एक प्रथम कोटि के नेता बन गए और न केवल जनता ही के प्रीतिभाजन वह हो गए, प्रत्युत सरकार पर भी अब उनकी गहरी धाक जमने लगी !

'इम्पीरियल कौंसिल' में

इसी अवधि में सन् १९०२ ई० में वह अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य भी नियुक्त हो चुके थे। कालान्तर में जब प्रान्तीय कौंसिल के प्रतिनिधि चुनकर वायसराय की कौंसिल में भेजने का नियम बना, तो मालवीयजी ही को अपने प्रदेश की ओर से वायसराय की 'इंपीरियल कौंसिल' के सदस्य बनने का भी सम्मान मिला। तब से १९२९ ई० तक लगातार केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य वह बने रहे। इस अवधि भर निर्भीक भाव से सरकारी नीति की आलोचना करके अपनी प्रभावशाली वक्तृत्व-शक्ति द्वारा देश की माँगों की पूर्ति कराने में उन्होंने अनमोल योग दिया। इस सम्बन्ध में 'प्रेस ऐक्ट', 'शर्त्तबंद कुली-प्रथा', 'रौलट बिल', 'इन्डेम्निटी बिल' आदि के विरोध में कौंसिल में दी गई उनकी वक्तृताएँ आज भी याद की जाती हैं। कहते हैं, उनकी वक्तृताएँ लिखित नहीं, प्रत्युत मौखिक ही होती थीं। फिर भी उनकी वाग्धारा में ऐसी सुसंगति और ओज रहता था कि सुननेवालों को मंत्रमुग्ध-सा हो जाना पड़ता था। वह किसी भी विषय पर बिना रुके घंटों हिन्दी अथवा अंग्रेजी में धाराप्रवाह बोलने की क्षमता रखते थे !

कांग्रेस के अध्यक्ष

सन् १९०९ ई० में लाहौर-अधिवेशन के अवसर पर मालवीयजी पहली बार राष्ट्रीय महासभा 'कांग्रेस' के अध्यक्ष चुने गए। इसके नौ वर्ष बाद सन् १९१८ के दिल्लीवाले अधिवेशन में भी, मनोनीत सभापति लोकमान्य तिलक की शिरोल-केस के संबंध में अनुपस्थिति की दशा में, पुनः एक बार और राष्ट्रपति के आसन पर बिठाकर उनका यथोचित सम्मान किया गया। इन दो मुख्य अधिवेशनों के अलावा सन् १९३२-३३ के सत्याग्रह-संग्राम के दिनों में, जब कांग्रेस पर सरकारी बंदिशें लगा दी गई थीं, दिल्ली और कलकत्ता के उसके दो विशेष अधिवेशनों के भी अध्यक्ष वही मनोनीत हुए थे। परन्तु उन अधिवेशनों में सम्मिलित होने के लिए जाते समय, दोनों मौकों पर राह ही में गिरफ्तार कर लिए जाने के कारण, वह उनमें उपस्थित न हो पाए थे। इस प्रकार राष्ट्र ने कुल मिलाकर चार बार उन्हें अपना सर्वोच्च पद प्रदान कर अपने आपको गौरवान्वित किया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि देश के हृदय में उनके प्रति सदैव ही कितनी प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव रहा और स्वयं वह भी कांग्रेस के प्रति अचल निष्ठा रखते हुए उसकी ओर किस प्रकार अभिमुख बने रहे।

'नरम' भी और 'गरम' भी

यह एक जानी हुई बात है कि गोखले, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी एवं फीरोजशाह मेहता आदि की भाँति हमारे चरितनायक भी राजनीति के क्षेत्र मे आजीवन नरम नीतिवाले या 'मॉडरेट' ही बने रहे। उन्होंने भी ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहते हुए ही स्व-शासन की प्राप्ति के लक्ष्य को अपने सन्मुख रक्खा। फिर भी उनकी अपनी यह एक विशेषता थी कि जब-जब भी जन-संग्राम छिड़ा, तब आरंभ में उससे अलग खड़े रहकर तथा उग्र पथ को ग्रहण करने से देश को प्रायः टोकते रहकर भी अंत में कई अवसरों पर उन्होंने उसमें अपना निश्चित भाग लेकर सबको आश्चर्य मे डाल दिया ! उदाहरणार्थ, सन् १९३०-३२ के सत्याग्रह के दिनों में अपनी सारी नरमाई ताक पर रखकर वह रणक्षेत्र में कूद पड़े थे। उन्होंने ही अन्य नेताओं की अनुपस्थिति में सेनानी का स्थान ग्रहण कर संकट के समय में उस युद्ध को जारी रक्खा था। इसी प्रकार जब १९१४-१८ ई० का महायुद्ध समाप्त हुआ था और मांटेगू-चेम्सफर्ड सुधारों के साथ-साथ देश को जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड एवं ओडायरशाही के अधीन पंजाब के दमन की दिल दहला देनेवाली अन्य घटनाओं का पुरस्कार मिला था, तब भी जहाँ समग्र जनता के अन्तराल में रोष की एक प्रचंड ज्वाला भभक उठी थी, वहाँ मालवीयजी का भी दिल बेतरह हिल उठा था। वह तत्काल ही अन्य नेताओं के साथ पंजाब दौड़े गए थे तथा उस वीभत्स हत्याकाण्ड की स्वतन्त्र जाँच कराने एवं पीड़ित परिवारों को राहत पहुँचाने के कार्य में योग देने

में उन्होंने कोई भी कोर-कसर नहीं रक्खी थी। इस समय की कौंसिल में दी गई लगातार पाँच घंटे की उनकी जोशभरी वक्तृता तो इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी !

अद्‌भुत रवैया :: प्रथम कारावास

परन्तु जहाँ एक ओर इस प्रकार भावावेश में उग्र से उग्र पथ को भी ग्रहण करने के प्रचुर उदाहरण हमें उनके जीवन में मिलते हैं, वहाँ साथ ही साथ ऐसी भी मिसालें कम नही मिलती, जिनमें हम आश्चर्य के साथ उन्हें देश की यथार्थ लड़ाई से एकदम हटकर ऐसे कार्यों में भी सलग्न होते पाते हैं, जिनसे कि स्पष्टतः जनहृदय को ठेस पहुँच सकती थी। उदाहरण के लिए, गांधीजी द्वारा आरम्भ किए गए सन् १९२०-२१ ई० के महान् सत्याग्रह-आन्दोलन के समय वह न केवल तटस्थ ही बने रहे, प्रत्युत अंग्रेजों के प्रति अपनी अटल निष्ठा के जीते-जागते सबूत के रूप में उन्होंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रांगण में प्रिंस ऑफ वेल्स का सहर्ष स्वागत भी किया ! और सो भी तब जब कि सारा देश स्थान-स्थान में उस गोरे युवराज को काले झण्डे दिखा रहा था एव उसके स्वागत-समारोहों का डटकर बहिष्कार कर रहा था। यह वह समय था जब देशबन्धु दास, प० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय जैसे लोकनेताओं सहित लगभग पचास हजार भारतवासी जेलों की आड़ में बन्द किए जा चुके थे ! इसी प्रकार माण्ट-फोर्ड योजना द्वारा प्रवर्तित नई कौंसिलों का कांग्रेस द्वारा बहिष्कार किए जाने पर भी मालवीयजी ने उनका साथ ही दिया। अन्त में जब 'स्वराज्य-पार्टी' की स्थापना होने पर कांग्रेस ने इन कौंसिलों में अपना मोर्चा बाँधने का निर्णय किया, तो देशबन्धु और मोतीलालजी के विपक्ष में खड़े होकर सन् १९२६ में उन्होंने अलग से 'नेशनलिस्ट पार्टी' बना ली और कांग्रेस के अपने सहयोगियों के ही खिलाफ चुनाव की लड़ाई लड़ी ! ये वे दिन थे जब मालवीयजी कांग्रेस से कही अधिक 'हिन्दू-महासभा' के साथ अपने आपको तन्मय किए हुए थे।

पर आगे चलकर १९२९ ई० में देश ने पुनः उन्हें अपना रुख-बदलते हुए देखा और अन्य लोकनेताओं के साथ मिलकर उन्होंने भी उसी साल आनेवाले सुप्रसिद्ध 'साइमन-कमीशन' का डटकर बहिष्कार किया। इसी प्रकार सन् १९३० ई० के जनान्दोलन में भी एसेम्बली से त्यागपत्र देकर खम ठोंककर वह मैदान में आ धमके। वह बम्बई में लोकमान्य की वर्षी के अवसर पर पुलिस-कमिश्नर की आज्ञा की अवहेलना में एक जुलूस का नेतृत्व कर बरसते पानी मे रात भर हजारों नर-नारियों की भीड़ के आगे सड़क पर डटे रहे तथा अन्त में गिरफ्तार होकर दो सप्ताह के लिए जीवन में पहली बार जेल भी हो आए ! इसके शीघ्र ही बाद दिल्ली में कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक के अवसर पर सरदार पटेल, डा० अंसारी आदि के साथ-साथ सरकार ने उन्हें पुनः गिरफ्तार करके छः महीने के कारावास की सजा ठोक दी थी और वह नैनी-सेंट्रल-जेल भी भेज दिए गए थे, यद्यपि स्वास्थ्य की खराबी के कारण अन्त में शीघ्र ही वह फिर से मुक्त भी कर दिए गए थे।

'सांप्रदायिक निर्णय' :: 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी'

सन् १९३१ ई० के अगस्त मास में द्वितीय गोल-मेज-कानफरेंस में निमत्रित होकर मालवीयजी अपने जीवन में पहली बार विलायत गए। एक कट्टर हिन्दू के नाते समुद्र-यात्रा के निषेध के नियम में पूर्ण आस्था रखते हुए भी, केवल देश के खातिर ही, उन्होंने विलायत जाना मजूर किया ! वहाँ से लौटने पर सितंबर, सन् १९३२, में दलितों के प्रश्न पर पूना में गांधीजी के आमरण उपवास के पथ पर उतारू हो जाने पर, जिन लोगों ने काफी दौड़-धूप करके सुप्रसिद्ध 'पूना-पैक्ट' कराया था, उनमे मालवीयजी ही अग्रणी थे। इसी प्रकार सन् १९३१ ई० का प्रसिद्ध गांधी-इरविन समझौता कराने मे भी उनका प्रमुख था। वस्तुतः काग्रेस और सरकार दोनों के साथ अपने मधुर सम्बन्ध के कारण जब-जब भी अवसर आया, तब-तब उन्होंने दोनों के बीच सधि अथवा समझौता कराने की बातचीत में महत्त्व का भाग लिया।

किन्तु अत में 'साम्प्रदायिक निर्णय' के मामले पर सरकार और कांग्रेस दोनो ही की नीति से उनका गहरा मतभेद हो गया। फलतः श्री० अणे के साथ 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी' के नाम से एक नवीन दल की प्रस्थापना करके सन् १९३४ ई० में पुनः कांग्रेस के विरुद्ध उन्होंने केन्द्रीय एसेम्बली का चुनाव लड़ा ! परन्तु यह था वस्तुतः हमारे इस वृद्ध चरितनायक के राजनीतिक जीवन का आखिरी मोर्चा, क्योंकि इसके बाद यद्यपि वह हमारे बीच बने रहे पूरे बारह-तेरह वर्ष तक, फिर भी स्वास्थ्य की खराबी के कारण

सक्रिय राजनीति से उन्होने एक प्रकार से सदा के लिए अवकाश ग्रहण कर लिया था। हाँ, इस बीच भी दौड़-दौड़कर कांग्रेस के अधिवेशनो में वह यथासाध्य अवश्य सम्मिलित होते रहे और इस प्रकार यदा-कदा अपनी वाणी का मधुर प्रसाद देकर हमें कृतार्थ करते रहे !

'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय' तथा अन्य कृतियाँ

राष्ट्रीय महासभा 'कांग्रेस' के अतिरिक्त और भी जिन दर्जनों संस्थाओ और हलचलो में मालवीयजी का हाथ रहा, उनमें सबसे उल्लेखनीय और महत्त्व-पूर्ण है निस्सदेह काशी का सुप्रसिद्ध हिन्दू-विश्व-विद्यालय। यह देश को इस वृद्ध ब्राह्मण की सबसे ठोस देन कही जा सकती है। उसे संक्षेप मे हम उसकी जीवनव्यापी तपस्या का सचित सार कह सकते है। इस महान् संस्था की योजना तो माल-वीयजी के मस्तिष्क में आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व ही एक मानचित्र के रूप में जन्म ग्रहण कर चुकी थी। किन्तु उसे वास्तविक रूप मिल सका सन् १९१८ ई० में, जब कि तत्कालीन वायसराय हार्डिज के हाथों उसका विधिवत् शिलान्यास हुआ। तब से अपनी मृत्यु की अतिम घड़ी तक महामना निरन्तर इस महान् शिक्षण-सस्था का विकास करने और उसके लिए धन एकत्रित करने में ही एकाग्र लवलीन रहे। उन्होने इस प्रकार उसके लिए लगभग डेढ करोड़ रुपया चदा माँगकर एक-त्रित कर लिया था ! वस्तुतः यह उन्हीं के बस की बात थी कि इतना अधिक रुपया इकट्ठा हो सका ! वह बरसों इसके कुलपति (वाइस-चांसलर) रहे और अत्यंत वृद्ध हो जाने पर जब उन्होने उस पद से अव-काश ग्रहण कर लिया, तब भी उसकी चिन्ता रखना उन्होंने न छोड़ा !

वस्तुतः जैसा कि उनकी ७०वी वर्षगांठ के अवसर पर गांधीजी ने कहा था, मालवीयजी थे काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राण और बदले में काशी-विश्वविद्यालय भी मानो उनका जीवन जैसा था। इसमें सदेह नही कि उनके इस अमल-धवल कीर्त्ति-स्तभ के आगे उनकी अन्य कृतियाँ एकदम लघु और फीकी दिखाई देती है ! नामोल्लेख के नाते उनमें से कुछ, जैमे प्रयाग का 'मेकडोनाल्ड हिन्दू-बोर्डिङ्ग हाउस', 'भारती-भवन', 'सेवा-समिति,' आदि सस्थाओं के नाम लिए जा सकते हैं, जो उन्ही की रचनाएँ है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-संगठन, गो-रक्षा-आन्दोलन, सनातन-धर्म-प्रचार, स्वदेशी-आन्दोलन एवं हिन्दी के उत्थान के लिए भी उन्होंने जीवन भर जो कुछ किया, वह भी अनुल्लेखनीय नहीं है। वही प्रख्यात 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के प्रथम सभापति हुए थे। अदालतों में हिन्दी का प्रवेश कराने के लिए भी सबसे जोरों की आवाज उन्होंने ही पहले-पहल आज से लगभग साठ वर्ष पहले उठाई थी ! यहाँ इतना स्थान नही कि उनकी इन सेवाओं का पूरा ब्योरा हम दे सकें।

अपने दीर्घ जीवन के अतिम दस-ग्यारह वर्षों में स्वास्थ्य की खराबी के कारण मालवीयजी महाराज एक प्रकार के राजनीतिक सन्यास का ही जीवन व्यतीत करते रहे। यद्यपि कुछ वर्ष पूर्व आयुर्वेद की पद्धति से अपना 'कायाकल्प' कराके स्वास्थ्य-सुधार का एक क्रान्तिकारी प्रयास उन्होंने किया था, फिर भी उनका वृद्ध शरीर अब इस योग्य नहीं रह गया था कि सार्वजनिक जीवन की दौड़धूप का श्रम पूरी तरह वह सहन कर सकता ! तथापि महत्त्व के विषय पर अपनी आवाज बुलन्द करते वह कभी भी नही चूकते थे। उदाहरणार्थ, १२ नवबर, सन् १९४६, के दिन काशी में सदा के लिए अपनी आँखे मूंद लेने के कुछ दिन पूर्व ही उन्होने नोआखाली (पूर्व बंगाल) तथा अन्य स्थानों में हिन्दुओं पर किए गए जघन्य अत्याचारों के विषय में एक जोशीला वक्तव्य प्रका-शित किया था और हिन्दू जाति को स्वरक्षा के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए ललकारा था ! कोई ताज्जुब नही कि इन लोमहर्षक घटनाओं के समाचारों के आघात से ही उनका हृदय एकबारगी ही टूक-टूक हो गया हो और इस प्रकार उनकी मृत्यु समीप आ गई हो।

दिल 'गरम', दिमाग 'नरम'

वस्तुतः महामना प० मदनमोहन मालवीय एक व्यक्ति से भी अधिक बन गए थे इस देश के लिए एक सस्था ! यदि उनके जीवन में विविध अनमेल धाराओ का सम्मिलन हमें दिखाई देता है, तो इसका कारण यही था कि वे एक साथ ही कई परस्पर-विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। वह एक ओर राजाओं के भी प्रिय पात्र थे और दूसरी ओर जनता के भी ! वह कांग्रेस के भी विश्वासभाजन थे और सरकार के भी ! यद्यपि वह एक पहेली जैसे थे, फिर भी नख से

शिख तक एक अद्‌भुत मधुरता की भावना से वह ओत-प्रोत थे। उनमें कटुता का नामोनिशान भी नही पाया जा सकता था! वस्तुतः उनके लिए यदि दुर्भाग्य की कोई बात थी तो यही कि जैसा कि एक समीक्षक ने कहा है, 'उनका दिल तो सदैव ही गरम रहा, पर दिमाग एकदम नरम!' इसीलिए जब-जब भी उनके दिल ने जोर किया, तब अपनी सारी नरम नीति को ताक पर रखकर मानो केसरिया बाना पहनकर वह मैदान में कूद पड़े। लेकिन भावावेश का वह जोश ठंढा पड़ने पर फिर जब उनके दिमाग को विचार और मनन का मौका मिला, तब हमेशा राष्ट्र की उमड़ती हुई उग्र प्रवृत्तियों को एक सीमा से आगे बढ़ने से रोकने में लगर का ही काम उन्होंने किया! उदाहरणार्थ, उनकी राजनीति ने गांधीजी के असहयोग और सत्याग्रह-संग्राम की नीति का कभी भी जी खोलकर अनुमोदन न किया। किन्तु जब सरकार के दमन-चक्र का अमानुषिक रूप प्रकट हुआ और अपनी ही आँखों से देशभक्ति की मशाल उठाए हुए तरुण युवको तथा कोमल कलियों जैसी महिलाओं पर लाठी-प्रहार के रूप में नौकरशाही के नग्न ताण्डव का दृश्य उन्होंने देखा, तो दिल बेकाबू हो गया और कंधे से कधा भिड़ाए तुरन्त ही वह भी साथ हो लिये! इसी प्रकार १९३०-३२ में दो बार वह जेल तक हो आए!

दूसरी ओर सन् १९२२ ई० में प्रिस ऑफ वेल्स के भारत-आगमन के अवसर पर जहाँ सारे देश में काले झंडे दिखाए गए और हड़तालें की गई, वहाँ उन्होंने अपने हजारों देशवासियों के जेल के सीखचों की आड़ में बंद होने की दारुण घड़ी में भी, अपनी लोकप्रियता की बाजी लगाकर, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रांगण में युवराज का स्वागत किया और उन्हे वरमाला पहनाई!

परस्पर-विरोधी नीति का रहस्य

उनके जीवन की इन परस्पर-विरोधी धाराओं का रहस्य और कुछ नहीं था, सिवाय इसके कि वह सदैव ही अपने जन्मजात पुरातन संस्कारों और नवीन परिस्थितियों के अनुरूप उमड़नेवाले भावोद्रेक की आँधियों से जीवन भर, कभी इधर तो कभी उधर, तरंगित और उद्वेलित होते रहे। इसीलिए एक ओर जहाँ हमने उन्हें १९३० ई० के सत्याग्रह के दिनों में बंबई की सडक पर एक जुलूस के साथ बरसते पानी में सारी रातभर हथियारबंद पुलिस के सामने डटे रहते हुए देखा, वहाँ दूसरी ओर केन्द्रीय धारा-सभा के चुनाव के समय नया दल बाँधकर उन्हें दो बार गांधीजी के कांग्रेसी उम्मीदवारों का सामना करते हुए भी पाया! जहाँ एक ओर वह अछूत भाइयों की दशा पर आँसू बहाते हुए गंगा-तट पर उन्हें राम-नाम की मत्र-दीक्षा देते हुए दिखाई दिए, वहाँ साथ-ही-साथ किसी भी तथाकथित अस्पर्श्य जातिवाले से छू जाने पर फिर से नहाए बिना एक घूँट पानी तक पीने को न तैयार होते भी वह हमें कई बार नजर आए! कहते है, राउण्ड टेबल कान्फरेन्स में शरीक होने के लिए विलायत जाते समय जहाज पर अपने साथ वह गंगाजल से भरे हुए कई कनस्तर तक ले गए थे!

वस्तुतः जैसा कि स्व० दीनबन्धु सी० एफ० एण्डरूज ने उनके चरित्र की समीक्षा करते हुए एक बार लिखा था, 'भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के अन्य सभी प्रथम श्रेणी के आधुनिक नेताओ से उनका जो मुख्य अतर रहा है, वह है एक हिन्दू के रूप में उनके कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण-विषयक भेद ही! वह, जहाँ तक हिन्दूधर्म का सबध है, एकदम कट्टरवादी रहे! किन्तु साथ-ही-साथ राष्ट्रीय मामलो में कई बातों के लिहाज से वह काफी प्रगतिशील विचार के व्यक्ति भी दिखाई दिए। इसी कारण उनके अतस्तल में अपनी हिन्दू धार्मिक कट्टरता एव देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवादिता के बीच हमें सदैव एक संघर्ष-सा छिड़ा दिखाई दिया!'

'नख से शिख तक केवल हृदय ही हृदय'

निश्चय ही यह सब-कुछ अजीब-सा लगता है, किन्तु लगभग पौन शताब्दी की दीर्घ अवधि भर हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर निरंतर चमकते रहनेवाला यह वृद्ध ब्राह्मण ऐसा ही एक अद्‌भुत व्यक्तित्व था! वह था वर्णाश्रम-धर्म का पृष्ठपोषक एक जन्मजात कट्टर हिन्दू, इस देश के अतीत और उसकी पुरातन रूढ़ियों का एक अनन्य पुजारी, अपने परंपरागत सस्कारो की दृढता का एक जीता-जागता नमूना! किन्तु साथ-ही-साथ वह था इस देश की राष्ट्रीयता की नीव डालनेवाला एक महान् देशभक्त भी, मातृभूमि की स्वाधीनता की लड़ाई में अनवरत योग देनेवाला उसका एक सच्चा उपासक भी, मानवता और कोमल भावनाओं का एक जीता-जागता पुतला भी

तथा 'नख से शिख तक केवल हृदय ही हृदय' ! उसका सारा जीवन इन्ही दो प्रबल प्रवृत्तियो के निरन्तर समझौते के अथक प्रयास का एक प्रतिबिंब जैसा था। यह उसके ही असाधारण चरित्रबल के बस की बात थी कि इन दोनों ही धाराओं के निरन्तर साथ-साथ बहते हुए, वह अपनी जीवन-नौका को अतिम क्षण तक सफलतापूर्वक खे ले गया ! माना कि आज उसका युग बीत चुका है और हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा अब एक नवीन गति से अपने भावी उत्कर्ष के क्षितिज की ओर बढती चली जा रही है, फिर भी अपने समय में हमारे इतिहास-पथ की बालुकाराशि पर जो पदचिह्न वह अंकित कर गया है, उन्हें मेटने का सामर्थ्य किसमें है ?

भावनामय व्यक्तित्व

मालवीयजी महाराज उतने अच्छे एक लेखक नही थे, जितने कि अद्भुत वह एक वक्ता थे। वह अपने भाव-प्रवाह में जिस आसानी के साथ एक अनूठा भाषण दे जाते थे, लेखनी द्वारा उतनी तेजी और निर्द्वन्द्व भाव से अपनी हृद्गत भावनाओं और मानसिक विचारधारा की अभिव्यक्ति वह नही कर पाते थे। उनकी वाणी का मधुर प्रवाह तो जहाँ आरम्भ हुआ नहीं कि समगति से कलकल निनाद करता हुआ घंटो जारी रह सकता था। किन्तु लिखते समय उनकी कलम मानो पग-पग पर ठिठकने लगती थी। इन पंक्तियों के लेखक को सन् १९३७-३८ ई० में कुछ समय तक इस वृद्ध राष्ट्र-नेता के निकट संसर्ग में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था ! तभी पहले-पहल आश्चर्य के साथ वह यह जान पाया था कि लगातार पाँच-छः घंटों तक एसेम्बली-भवन में अपनी वाग्धारा प्रवाहित करने की असाधारण क्षमता रखनेवाले महामना एक छोटा-सा निबन्ध तक लिखने में कितने झिझकने लगते थे। उन्होंने एक ग्रंथ के लिए केवल दो-तीन पैरेग्राफ का एक छोटा-सा प्राक्कथन लिखने मे लगभग एक सप्ताह का समय लगा दिया था !

यहाँ पुनः हमे उनकी उस विशिष्टता ही की एक झलक देखने को मिलती है, जिसका कि उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर आए हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व विचारमय से कहीं अधिक एक भावनामय व्यक्तित्व था। वह हृदय ही की वाणी से कहीं अधिक सार्थकतापूर्वक बोल सकते थे, मस्तिष्क द्वारा नहीं। जब तक भाव के प्रवाह में वह रहते थे, मुक्त भाव से अपनी अमृत-वाणी की पीयूष-वर्षा करते चले जाते थे। किन्तु जहाँ तर्क-वितर्क अथवा सोच-विचार का सामना पड़ा कि अटकने लगे !

इसीलिए तो स्व० श्री चिन्तामणि ने उनके जीवन-काल ही में थोड़े में ही इन चुने हुए शब्दों द्वारा उनकी सही-सही झाँकी आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रस्तुत कर दी थी कि 'पंडित मदनमोहन मालवीय हैं नख से शिख तक केवल हृदय ही हृदय !' अतः पंडितजी के अतस्तल की यथार्थ झलक यदि जिज्ञासु पाठक पाना चाहे, तो उनके लेखों में नही, प्रत्युत उनकी उन अगणित वक्तृताओं के सरोवर में डुबकी लगाकर, उनमे निरन्तर उँडेले गए उनके हृदय के सुधारस में अपने आपको सराबोर करना चाहिए, जो कि उनकी भावनाओं की यथार्थ थाती हैं। उन्ही में हमें उनका यथार्थ दर्शन होता है।

उनका संदेश

अंत में हम यहाँ सन् १९०९ ई० के लाहौर-अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से दिए गए उनके भाषण का एक अंश प्रस्तुत कर उनके इस परिचय-चित्र को समाप्त करते हैं। उसमें निहित संदेश आज भी हमारे लिए उपादेय हो सकता है—'आज हमारे यहाँ लोगों की दशा कितनी दयनीय है ! करोड़ों खाने के लिए पेट भर भोजन भी नही पाते और न सर्दी-गर्मी से बचने के लिए पर्याप्त कपड़े ही उन्हें मिलते हैं ! वे गंदगी के वातावरण में पैदा होते, उसी में रहते और अंत में असमय ही उस अकाल मृत्यु के घाट उतर जाते हैं, जिससे अवश्य ही वे बचाए जा सकते थे ! आज राष्ट्र-भक्ति और मानवता दोनों का यह तकाजा है कि सरकार जो कुछ भी कर रही है या करेगी, उसके अतिरिक्त स्वयं हमें भी उनकी दशा सुधारने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए। हमें अपनी शक्ति का एक-एक कण मातृभूमि की प्यार-भरी सेवा में लगा देना चाहिए ! वस्तुतः इस पृथ्वी पर दूसरा कोई देश ऐसा नही है, जो हमारी इस भूमि से अधिक इस प्रकार की सेवा और सहायता का पात्र हो !'

काश कि इस राष्ट्र-पिता के इन चुभते हुए वाक्यों पर हम ध्यान दे सकते, तो हमारी मातृभूमि की वेशभूषा आज कुछ और ही होती !

लाजपतराय

अपने बलिष्ठ हाथों से हमारी राष्ट्र-वेदी की नींव की आरंभिक शिलाएँ रोपकर, इस देश के आधुनिक राजनीतिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करनेवाले गिने-चुने दिग्गजों में 'लाल-बाल-पाल' की इतिहासप्रसिद्ध त्रिपुटी के अमर रत्न लाला लाजपतराय का स्थान निस्सदेह सबसे अग्रिम पंक्ति में है। वह उन असामान्य देशसेवकों में से थे, जिन्होने उस आरभिक युग में ही राष्ट्र की निगूढतम आकाक्षाओं की निधड़क अभिव्यक्ति की थी, जब कि सुरेन्द्र-नाथ, फीरोजशाह और गोखले जैसे हमारे तत्कालीन कर्णधार पग-पग पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपनी अटल राजभक्ति की दुहाई देते नही थकते थे। लोकमान्य की भाँति उन्होने भी हमारी राजनीति के ठंडे चोले में सरगर्मी पैदा करने में सबसे अधिक साहस दिखाया था! इसीलिए पूर्वोक्त 'नरम' नेताओं के बजाय उग्र पक्ष के सरताज लोकमान्य तिलक के ही संप्रदाय के एक पके हुए 'गरम' राजनेता वह माने जाते थे! उनकी दहाड़ में वह बल था कि किसी जमाने में ब्रिटिश सत्ता तिलक के बाद इस देश के लोकनायकों में यदि किसी से सबसे अधिक भय खाती थी तो केवल उन्हीं से! तभी तो बग-भग के उन तूफानी दिनों में, जबकि हमारी राष्ट्रीयता पहले-पहल सैनिक बाना पहनकर सामने आई थी, इस देश की भूमि पर उनकी विद्यमानता में भयंकर खतरे की बू पाकर गोरी नौकरशाही ने सुदूर बर्मा के माण्डले-किले मे पहुँचाकर उन्हे नजरबन्द कर रखने ही मे अपना परम कल्याण समझा था। इसके बाद १९१४-१८ के महायुद्ध के दिनों में भी उसने उन्हें विलायत के अपने प्रवास से वापस स्वदेश आने से रोके रहकर, वर्षों के लिए इस देश से एक प्रकार से निर्वासित-सा कर दिया था!

महान् बलिदानी

इस देश के इतिहास में लाजपतराय का स्थान महान् बलिदानियों में माना जायगा। उन्होने मातृभूमि के लिए अपना सब-कुछ ही होम दिया। उनके महान् बलिदान एव कष्टसहन के बारे में इससे अधिक और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या है कि जीवन के अनेक मूल्यवान् वर्ष उन्होंने विदेशों में निर्वासन की दशा में ही व्यतीत किए। यही नही, बार-बार जेल की यातनाएँ भोगकर अंत में पुलिस की लाठियों के सामने सीना तानकर स्वदेश के हेतु अपने प्राणों तक की आहुति चढाते वह हिचकिचाए नही! निश्चय ही वह एक महान् देशभक्त थे। वह थे इस देश के उद्धार के लिए निरतर जूझते रहनेवाले एक सच्चे राष्ट्रवीर—

अक्षरशः 'पंजाब-केसरी'—जिन्हें खोकर उनका अपना प्रान्त (पंजाब) तो राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार एकबारगी ही सूना पड़ गया कि फिर कोई उनके खाली स्थान की वहाँ पूर्ति ही न कर पाया—वह राजनीतिक दृष्टि से एकदम कंगाल-सा हो गया !

आरम्भिक जीवन :: 'आर्य समाज' में

लालाजी का जन्म हुआ था २८ जनवरी, सन् १८६५ ई०, के दिन पजाब के एक छोटे-से ग्राम ढोंडीगाँव में, जहाँ कि उनका ननिहाल था। किंतु वैसे दरअसल वह थे जिला लुधियाना के जगराँवा नामक एक कस्बे के निवासी। उनके पिता लाला राधाकृष्ण सरकारी शिक्षा-विभाग में स्कूलों के इस्पैक्टर थे। अतः स्वभावतः ही लाजपत की शिक्षा-दीक्षा काफी देखरेख के साथ हुई। वह सन् १८८० ई० में लुधियाने के मिशन-स्कूल से एण्ट्रेस-परीक्षा पास कर सरकारी छात्रवृत्ति पा एफ० ए० तथा मुख्तारी की पढ़ाई के लिए लाहौर पहुँचे। इस अध्ययनकाल की समाप्ति पर, कुछ समय तक जगराँवा तथा रोहतक मे मुख्तारी का काम करने के उपरान्त, वह शीघ्र ही वकालत की परीक्षा दे बाकायदा एक 'प्लीडर' बन गए। इसके बाद पाँच-छः वर्ष तक उन्होने हिसार में प्रैक्टिस की, जहाँ की म्युनिसिपल कमेटी के अवैतनिक मत्री के रूप में उन्होने पहले-पहल सार्वजनिक क्षेत्र में अपना कदम बढ़ाया।

तब सन् १८९२ ई० में वह चले आए लाहौर, जो कि आगे चलकर उनका मुख्य कार्यक्षेत्र बननेवाला था। ये वे दिन थे, जब कि ऋषि दयानन्द द्वारा रोपे गए 'आर्य समाज' रूपी पौधे को सीचकर प० गुरुदत्त विद्यार्थी एवं महात्मा हसराज जैसे उनके उत्साही उत्तराधिकारी पजाब में सामाजिक तथा धार्मिक अभ्युत्थान के महान् कार्य को आगे बढाने में जोरों के साथ तल्लीन हो रहे थे। फलतः लाहौर उत्तरी भारत में जनजागृति और सुधार का एक महत्त्वपूर्ण पीठस्थान-सा बन गया था ! इस जागृति की बाढ़ के साथ स्वभावतः ही हमारे चरितनायक भी अपने नैसर्गिक भावावेग एव मातृभूमि के उत्थान विषयक अपने सहज अनुराग के कारण तुरन्त हो लिए। आर्य समाज की उस वेदी पर से अपने आरम्भ के इन दिनों में उन्होंने शिक्षा, समाज-संस्कार, दलितोद्धार, आदि के सम्बन्ध में अनमोल सेवा-कार्य किया। उन्होंने 'समाज' के तत्त्वावधान में स्थापित 'दयानन्द-एंग्लो-वैदिक कॉलेज' के अवैतनिक मंत्री का भार ग्रहण कर अभूतपूर्व लगन के साथ उसकी उन्नति और वृद्धि के कार्य में अपने आपको लवलीन कर दिया। उन्होंने उसमें अध्यापकी तक का काम किया और थोड़े ही दिनों में उसे प्रान्त के एक प्रमुख शिक्षालय की उच्च स्थिति पर पहुँचा दिया।

कांग्रेस में :: पहली विलायत-यात्रा

इसी बीच सन् १८८८ ई० में इलाहाबाद के चतुर्थ काग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित हो वह राजनीति के क्षेत्र की ओर भी अपना प्रारम्भिक कदम बढ़ा चुके थे। उन्होंने २३ वर्ष की उस छोटी-सी उम्र ही में, उक्त अधिवेशन में कौंसिल-सुधार विषयक एक प्रस्ताव पर बोलकर, आगे चलकर विकसित होनेवाली अपनी प्रकाण्ड वक्तृत्व-शक्ति की एक पूर्व-झलक दे दी थी। यहाँ इस बात का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि कांग्रेस के प्लेटफार्म से अपनी यह पहली वक्तृता लालाजी ने हिन्दुस्तानी भाषा ही में दी थी। इसी प्रकार जब वह हिसार में म्युनिसिपल कमेटी के मंत्री थे, तब भी एक बार प्रान्तीय गवर्नर को मानपत्र देने का प्रश्न उठने पर उन्होंने हिन्दी ही में लिखकर उक्त मानपत्र को देने की जोरों से हिमायत की थी। इन्हीं दिनो की बात है कि अपने पूज्य पिता के साथ मिलकर युवक लाजपतराय ने अलीगढ़ के प्रख्यात मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद के नाम लाहौर के 'कोहनूर' नामक उर्दू पत्र तथा अग्रेजी के भी कुछ अखबारों में कई एक खुली चिट्ठियाँ प्रकाशित की थी ! उन पत्रों में उनकी राष्ट्र-विरोधी कार्रवाइयों तथा राजनीति के क्षेत्र में गिरगिट की तरह आकस्मिक रूप-परिवर्तन की उन्होंने कड़ी आलोचना की थी, जिससे सारे देश का ध्यान अनायास ही इस युवक के प्रति खिंच गया था।

इसके बाद तो कांग्रेस के साथ लालाजी का सम्बन्ध दिन-पर-दिन प्रगाढ ही होता चला गया। अतः सन् १९०५-६ ई० में जब राष्ट्र की माँग प्रस्तुत करने के लिए कांग्रेस की ओर से एक डेपूटेशन (शिष्टमण्डल) इगलैंड भेजना तय किया गया, तो महामना गोखले तथा बिशननारायण दर के साथ वह भी उस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए तुरन्त ही चुन लिये गए ! वहाँ महीने भर में चालीस व्याख्यान उन्होंने दिए, अनगिनत लेख भी लिखे और कितने ही प्रमुख व्यक्तियों से भेंट की ! किंतु इससे केवल यही अनुभव लेकर वह वापस स्वदेश आए कि विदेश

जाकर भीख माँगने से काम नही चलने का— यदि इस देश को अपनी आकाक्षाओं की सिद्धि करना है, तो स्वावलम्बन की नीति अपनाकर स्वयं ही अपना रास्ता आप खोजना पड़ेगा। यही संदेश उन्होंने लौटकर देश को दिया।

समाज-सेवा के क्षेत्र में

इसी कालावधि में क्रमशः सारे उत्तरी भारत— राजस्थान, बिहार-उड़ीसा, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश (यू० पी०)—को अपने चगुल में दबोच लेनेवाले भीषण दुर्भिक्षो के मौको पर पीड़ितों को राहत पहुँचाने का अनमोल सेवा-कार्य हमारे चरितनायक ने किया। उसका उल्लेख सरकार तक ने आभारपूर्वक सन् १९११ की अपनी मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में किया। इसी प्रकार सन् १९०५ ई० के भयंकर कांगड़ा-भूकप के अवसर पर भी लाहौर के 'आर्य समाज' की ओर से एक सहायक-समिति की प्रस्थापना कर उन्होने उक्त भीषण दुर्घटना से त्रस्त हजारों असहाय नर-नारियो की प्रशसनीय सहायता की। तब १९०१ ई० के 'दुर्भिक्ष कमीशन' के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण गवाही भी उन्होंने दी, जिसमें अकाल के समय ईसाई मिशनरियों द्वारा की जानेवाली धर्म-परिवर्तन-विषयक धाँधलियो के प्रति ध्यान दिलाते हुए अनाथ बच्चों की रक्षा के बारे में कई एक मार्के के सुझाव उन्होने पेश किए। वस्तुतः उन्हीं के प्रयत्नों से उत्तरी भारत मे पहले-पहल सुसगठित रूप से आधुनिक ढग के अनाथालयों की प्रस्थापना हुई थी। इस प्रकार अपने प्रयत्न से लगभग दो हजार असहाय बच्चों की विधर्मियो के हाथों में पड़ जाने से उन्होंने रक्षा की थी। तो फिर क्या आश्चर्य था, यदि देखते ही देखते न केवल राजनीति के ही आँगन में, बल्कि समाज-सेवा और सुधार के क्षेत्र में भी, अल्पकाल ही में एक गौरवपूर्ण स्थान उनके लिए बन गया और स्वतः अपने प्रांत पंजाब के तो निर्विवाद रूप से सोलहों आने वही सर्व-प्रधान लोकप्रिय राष्ट्रनेता बन गए!

तब आया इतिहासप्रसिद्ध बग-भग का वह तूफानी युगान्तरकाल, जिसने इस युग में पहले-पहल हमारी रगों में वास्तविक जागृति की उष्णता का संचार कर हमें अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति करने का पहला मंत्र सिखाया। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आरभ ही से उग्र राजनीतिक विचारों से सराबोर होने के कारण, हमारे चरितनायक ने इस तूफान को जगाने एवं राष्ट्रशक्ति के उभरते हुए मोर्चे को सबल बनाने के महान् अनुष्ठान मे कोई कम महत्त्व का भाग न लिया। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी और निर्भीक राजनीति द्वारा, दमन-पथ पर आरूढ नौकरशाही का दिल दहलाते हुए, जोरो के साथ जनता को अपने निजी पैरों पर खड़ा होने के लिए उभाड़ना शुरू किया।

सिंह की-सी दहाड़ :: देशनिकाला

उन्होंने गोखले की अध्यक्षता में होनेवाले काशी के प्रसिद्ध कांग्रेस-अधिवेशन में बग-भग-विषयक मुख्य प्रस्ताव पर बोलते हुए स्पष्ट शब्दों में यह निर्भीक उद्घोषणा की थी—'गिड़गिड़ाते रहने की नीति अब हमने छोड़ दी है।..... वस्तुतः अग्रेज स्वय किसी भी बात से इतनी घृणा नही करते, जितनी कि भिक्षावृत्ति से, और मेरा भी दृढ मत है कि भिखारी सच ही इसी योग्य होता है कि उससे नफरत की जाय। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अग्रेजो को यह दिखा दे कि अब हममें इस बात की पूर्ण चेतना जग उठी है कि हम पहले के-से भिखारी नही रहे!'

निश्चय ही उस जमाने को देखते हुए इस प्रकार की आवाज बुलन्द करना कोई खिलवाड़ न था—वह केवल लालाजी जैसे नरकेसरी ही के बूते की बात थी! अन्यथा सुरेन्द्रनाथ, गोखले, फीरोज-शाह, मालवीयजी आदि हमारे अन्य बुजुर्ग तो उन दिनो पग-पग पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति लालायित दृष्टि से देखते हुए उसके प्रति अपनी वफादारी की दुहाई देते थकते नही थे! वे सब केवल वैधानिक रीति से कुछ सुधारों की माँग पूरी कराने के ही प्रयत्न में लवलीन थे! हाँ, लोकमान्य तिलक अवश्य हमारे आरभकाल के दिग्गजो में एक ऐसे नेता थे, जो इन नरम नीतिवाले नेताओं से कोसों आगे बढ़कर देश की सच्ची राजनीतिक आकांक्षाओ को यथार्थतः व्यक्त करने का साहस करते दिखाई देते थे। किन्तु इसीलिए तो सरकारी आँखों में वह सबसे अधिक खटकते भी थे। कहना न होगा कि यही बात हमारे चरितनायक लालाजी के बारे मे भी लागू थी। वह नख से शिख तक एक पके हुए 'गरम' राज-नीतिज्ञ करार दिए जाते। वस्तुतः नौकरशाही की निगाह में लोकमान्य के बाद उन दिनों यदि सब-से खतरनाक कोई व्यक्ति इस देश में दिखाई देता

था, तो निस्सन्देह वह लालाजी ही थे ! इन्ही दिनों की बात है कि विक्षुब्ध बगाल की आँच पाकर पंजाब में भी, 'कैनाल कॉलोनाइजेशन बिल' के अन्तर्गत माण्टगुमरी जैसी नई आबादियों के ऊपर कायम किए गए लगान आदि के प्रश्न पर, जोरों के साथ असंतोष की आग भभक उठी। इस आग को भड़कानेवालो में अग्रणी थे 'अंजुमन मुहिब्बाने वतन' के संस्थापक सुप्रसिद्ध सरदार अजीतसिंह, जिनके जोशीले भाषणों को सुनने के लिए लोग हजारों की सख्या में आ-आकर जमा होते थे ! हर कही लोग 'उट्ठो अलाज करो कोई वतन दा' जैसे गीतो का नारा लगाते हुए देश के उत्थान के यज्ञ मे भाग लेने के लिए हाथ बढाने में एक-दूसरे से होड़ बदने लगे !

इस अप्रत्याशित हलचल को दिन पर दिन बढ़ते देखकर गोरी सरकार बेतरह शकित हो उठी ! उधर उसके पिछलग्गू 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' जैसे अधगोरे पत्रों ने इस सबध में तरह-तरह की बेसिर-पैर की झूठी बातें फैला-फैलाकर न केवल अजीतसिंह ही पर बल्कि साथ में लालाजी पर भी बगावत की आग भड़काने का आरोप लगाना शुरू किया ! तब तो सरकार ने तुरन्त ही इन काँटों को अपनी राह से उखाड़ फेंकने ही में भलाई समझी ! अतः एक दिन आया, जबकि यह दिल दहला देनेवाला समाचार दुनिया को सुनने को मिला कि अजीतसिंह और लाजपतराय दोनो ही को सन् १८१८ ई० के रेगूलेशन नं० ३ के अन्तर्गत देशनिकाला दे दिया गया ! यह समाचार तब प्रकट किया गया, जबकि वे देश के बाहर कर दिए गए थे !

'क्यों न ऐसा आदमी गोली से उड़ा दिया जाय'

यह मई, सन् १९०७ ई०, की बात है। अपने इस प्रथम निर्वासन की कथा को स्वय लालाजी ने 'दि स्टोरी ऑफ माइ डिपोर्टेशन' (अर्थात् 'मेरे देशनिकाले की कहानी') नामक अपनी अग्रेजी पुस्तक में काफी विस्तार के साथ अकित की है। उसमें उन्होने बताया है कि किस प्रकार अदालत जाते समय एकाएक रास्ते में गिरफ्तार करके उन्हे ले जाकर 'लॉक-अप' में बन्द कर दिया गया था ! किस प्रकार कड़े फौजी पहरे मे अत्यन्त छिपे तौर से एक स्पेशल ट्रेन द्वारा लाहौर से कलकत्ते के 'डायमण्ड-हार्बर' तक उन्हें ले जाया गया था ! और अंत में वहाँ से जहाज द्वारा बर्मा पहुँचाकर किस तरह माण्डले के किले में उन्हें नजरबंद कर दिया गया था ! उनसे अधिकारीगण कितने प्रकपित थे, इसका कुछ अदाज हम इस बात से लगा सकते है कि जब उन्हें लेकर रेलगाडी रगून से माण्डले पहुँची थी, तो उनके वहाँ उतरते समय सारा स्टेशन लोगों से खाली करा दिया गया था ! कहना अनावश्यक है कि मातृभूमि के हेतु निर्वासन के इस कठोर दण्ड के प्रहार ने हमारे चरितनायक के व्यक्तित्व को अपने देशवासियों की निगाह में और भी ऊँचा उठा दिया। जैसा कि कांग्रेस के इतिहासकार डा० पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, उस साल की घटनाओ के एक तरह से वह प्रधान केन्द्र-से बन गए, जिसके कि चारों ओर तात्कालिक सारा राजनीतिक चक्र घूमा था ! उनके इस अन्यायपूर्ण देशनिकाले के प्रश्न को लेकर न केवल भारत के राजनीतिक आँगन ही में प्रत्युत ब्रिटिश पार्लमिण्ट तक में प्रतिरोध की जोरदार आवाज उठाई गई थी। कहते है, जब किसी दिलजले अनुदारदली गोरे ने यह कहकर अपनी कुढन प्रकट की थी कि 'क्यों न ऐसे आदमी को गोली से उडा दिया जाय', तब तो वहाँ चारों ओर से रोष की मानो ज्वाला-सी भभक उठी थी !

सूरत-कांग्रेस :: गरम-नरम दलों की टक्कर

सौभाग्य से उनका यह निर्वासनकाल अधिक लंबा न रहा—कुछ महीने बाद ही १८ नवम्बर, १९०७, के दिन वह मुक्त होकर वापस स्वदेश आ गए। तो फिर क्या पूछना था ! जनहृदय उनके स्वागत के लिए मानों उछल पड़ा और हर कही, विशेष रूप से गरम दल के पक्षपातियों द्वारा, काग्रेस के आगामी अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए मुक्त कण्ठ से उन्ही का नाम लिया जाने लगा ! परन्तु यह बात नरम दलवालो को, जिनका कि उन दिनों कांग्रेस में बहुमत था, क्योंकर स्वीकार हो सकती थी ? अतः उन्होंने अपनी ओर से उक्त अधिवेशन के लिए मॉडरेट पक्ष के नेता श्री रासबिहारी घोष का नाम पेश किया। सौजन्यतापूर्वक लालाजी ने स्वयं अपना नाम हटाकर श्री रासबिहारी ही के नाम का समर्थन किया। किन्तु अन्त में जब सूरत में उक्त अधिवेशन के लिए कांग्रेस का समारोह जुटा, तो जैसा कि लोकमान्य तिलक और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के परिचय-चित्रों में बताया जा चुका है, दोनों दलों

के बीच गहरे मतभेद के कारण ऐसी धाँधली मची कि वह अधिवेशन पूर्णतया भंग हो गया ! तदनन्तर दोनो दलों के अलग-अलग सम्मेलन किए गए, जिनमें नरम दलवालों के अध्यक्ष हुए रासबिहारी घोष और गरम पक्षवालो के श्री अरविंद घोष। यद्यपि लालाजी उन दोनों ही में सम्मिलित हुए तथा उनमें परस्पर एकता स्थपित करने का उन्होने भरपूर प्रयत्न किया, परन्तु वह इस कार्य में सफलीभूत न हो सके ! इसके बाद तो आगामी दस वर्षो के लिए गरम दलवाले कांग्रेस के मच पर से एक प्रकार से बिलकुल ही निर्वासित-से हो गए। अब उस पर गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि नरम नेताओ ही का एकछत्र प्रभुत्व स्थापित हो गया। साथ ही देश में क्रांतिकारी आतंकवादी दल का जोर बढने और जगह-जगह बम-विस्फोट आदि होने के कारण, सरकारी दमन-चक्र का भी पारा दिन पर दिन ऊपर चढने लगा ! ये वे दिन थे, जब कि एक ओर देश के हृदयसम्राट् लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के आरोप में छः वर्ष का कारावास का दण्ड देकर उसी माडले के किले मे बन्द कर दिया गया था, जहाँ कि अभी-अभी लाजपतराय आठ महीने काट आए थे ! दूसरी ओर बगाल के कई एक देशभक्त नवयुवकों के साथ-साथ गरम दल के अन्य एक महान् नेता श्री अरविन्द घोष को भी एक षड़यंत्र-केस मे झूठे ही फँसाकर गिरफ्तार कर लिया गया था, जिससे कि बड़ी मुश्किल से श्री चित्तरंजन दास ने अपनी अद्भुत पैरवी द्वारा उन्हे छुटकारा दिलाया था !

'पंजाब-हिन्दू-सभा' :: 'शिक्षा-संघ'

राजनीतिक निराशा ओर अन्धकार के इस घटाटोप के वातावरण से खिन्न-से होकर लालाजी इन्ही दिनों कुछ समय के लिए इगलेंड चले गए। परतु विलायत के अपने इस आवासकाल का भी उपयोग उन्होने स्वदेश के हित के लिए ही किया। उन्होने इस बीच भारत के सबध में विलायत की पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि लिखकर तथा व्याख्यानों की एक झड़ी-सी बाँधकर विद्याध्ययन के लिए आए हुए प्रवासी भारतीय युवकों में जागरण का मत्र फूँकने का स्तुत्य कार्य किया। उधर जब प्रसिद्ध 'मार्ले-मिण्टो सुधारों' की घोषणा हुई, तो उन्हें निरर्थक बताकर जोरों के साथ उनके प्रति देश की राष्ट्रीय आतमा के विरोध की अभिव्यक्ति भी उन्होने की। वर्ष भर बाद जब सन् १९०९ ई० में वह वापस स्वदेश लौटे, तो कुछ मित्रो के सहयोग से उन्होने समस्त हिंदुओ को एक ही मच पर लाने के सदुद्देश्य से 'पंजाब-हिंदू-सभा' के नाम से एक नवीन सस्था को जन्म दिया। किन्तु इन्ही दिनों अपने पुत्र के विलायत में बीमार पड़ जाने के कारण, उन्हे फिर तुरन्त ही कुछ समय के लिए इगलैंड की दौड लगानी पड़ी। वहां से वापस आने पर उन्होंने शिक्षा-प्रसार के कार्य मे गहरी दिलचस्पी ली। उन्होने अपने प्रांत में कई एक सार्वजनिक विद्यालय प्रस्थापित किए तथा इस कार्य की लौ को जगाए रखने के लिए 'शिक्षा-सघ' के नाम से एक विशिष्ट सस्था का भी निर्माण किया।

तब १९१२ ई० में बाँकीपुर (पटना) के अधिवेशन में पूरे पाँच वर्ष बाद वह पुन: काग्रेस की वेदी पर आ खड़े हुए। उन्होने दक्षिणी अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो की यातनाओ के सबंध में गोखले द्वारा पेश किए गए एक प्रस्ताव के समर्थन मे मालवीयजी के साथ-साथ बड़े जोरदार शब्दों में एक वक्तृता दी। तदुपरान्त गांधीजी के नेतृत्व में जब दक्षिण अफ्रीका का इतिहास-प्रसिद्ध सत्याग्रह-सग्राम अपने पूरे जोर-शोर के साथ छिडा, तो महामान्य गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा उस लड़ाई के लिए मदद की अपील की जाने पर, लालाजी ने अपने प्रान्त से लगभग पचीस हजार रुपए चदे के रूप में इकट्ठा करके भिजवाए। इसी सबध में काग्रेस की ओर से जब एक डेपूटेशन विलायत भेजने का निश्चय किया गया, तो उसके सदस्य के रूप में वह पुनः इंगलैण्ड भी गए, यद्यपि इस डेपूटेशन से कोई नतीजा नही निकल पाया।

अमेरिका में :: 'यंग इंडिया'

जब यह डेपूटेशन वापस स्वदेश लौटा, तो लालाजी उसके साथ न आकर कुछ समय के लिए इगलैंड ही में रुक गए थे। उन्होने वहाँ ठहरकर इसी बीच 'आर्य समाज' के नाम से अंग्रेजी में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जो काफी समादृत हुई। तदनतर वहाँ से वह जापान चले गए थे। किन्तु इसी दर्मियान १९१४ ई० का महायुद्ध छिड़ जाने के कारण जब उन्हे स्वदेश आने के लिए पासपोर्ट न मिल सका, तो विवश हो पुन: उन्हें वापस इगलैंड ही चले जाना पड़ा। वहाँ से उसी वर्ष के आखिर तक अत में वह संयुक्त राज्य (अमेरिका) चले गए। यहाँ आकर

अपने जोशीले व्याख्यानों का एक तांता-सा बाँधकर तथा भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर पत्र-पत्रिकाओं में कई गवेषणापूर्ण लेख लिखकर उन्होंने मातृभूमि के हितार्थ जोरों का प्रचार-कार्य करना शुरू किया। इसका संयुक्त राज्य की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा।

उनका यह द्वितीय निर्वासनकाल पूरे पाँच वर्ष तक अर्थात् महायुद्ध की अवधि भर रहा। इस बीच अपने कुछ प्रवासी भारतीय मित्रों के सहयोग से 'इडियन होमरूल लीग' तथा 'इडियन इन्फार्मेशन ब्यूरो' नामक दो सस्थाओ की प्रस्थापना उन्होंने की। इसके अतिरिक्त 'यंग इडिया' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी उन्होंने अमेरिका से निकाला एव प्रचारार्थ कई एक पुस्तक-पुस्तिकाएँ भी लिखकर मुफ्त बँटवाईं। उनकी एक पुस्तक 'फाइट फॉर क्रम्ब्स' तो कई लाख की सख्या में छापकर मुफ्त वितरित की गई थी!

पंजाब की भीषण घटनाएँ और स्वदेश-वापसी

तब घटित हुआ सन् १९१९ ई० का पजाब का भीषण हत्याकाण्ड! उस समय मार्शल-लॉ के अतर्गत वहाँ की जनता पर ढहाए गए अत्याचारों के पहाड़ का समाचार पाकर पजाब के इस सिंह का हृदय अपनी बेबसी को देख मानो तिलमिला उठा! उस समय की अपनी अन्तर्वेदना लालाजी ने निम्न शब्दो मे प्रकट की थी—'मै इस मौके पर, जबकि मेरे देशवासी ऐसी विकट आपदाओ का सामना करते हुए आजादी की लड़ाई लड़ रहे है, उस संग्राम में अपना हिस्सा अदा करने के लिए देश में मौजूद न रहने के कारण एक कटु आत्मग्लानि और लज्जा के भाव से दबा जा रहा हूँ! यहाँ तक कि यह तथ्य भी कि भारत न जाने की अपनी इस विवशता में स्वत: मेरा अपना कोई अपराध नही है, मेरे लिए कोई सांत्वना की बात नही है। यद्यपि भारत के लिए होमरूल के पक्ष में बाहरी दुनिया में अनुकूल मत पैदा करने का यह काम भी एक महत्त्व का काम है, फिर भी हमारा सच्चा कार्यक्षेत्र तो है हिन्दुस्तान ही। वस्तुतः सारे ससार का नैतिक समर्थन प्राप्त कर लेने पर भी हमें निर्णयात्मक रूप से मदद नही पहुँचेगी। भारत की यथार्थ आजादी तो स्वय भारतीयों द्वारा भारत ही में सिद्ध हो सकेगी।'

सौभाग्य से इसके शीघ्र ही बाद उन पर से स्वदेश वापस आने सम्बन्धी बदिश उठा ली गई और २० फरवरी, १९२० ई०, के दिन वह बंबई के बन्दरगाह पर पुनः मातृभूमि के तट पर उतरे। वहाँ बिछुड़े हुए देशवासियों द्वारा बड़ी धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया गया।

असहयोग-संग्राम के दिनों में

इसके बाद के उनके जीवन के शेष आठ वर्षों का वृत्तान्त तो हमारे स्वातत्र्य-सग्राम के बृहत् इतिवृत्त की धारा के साथ इतना एकाकार हो चुका है कि उसे विस्तारपूर्वक दोहराने की आवश्यकता ही नहीं है। उन्होने वापस आते ही अपने आपको पूर्णतया देश के उत्थान-कार्य में लवलीन कर, इसी उद्देश्य से लाहौर से 'वन्देमातरम्' नामक एक उर्दू दैनिक निकालना शुरू किया। उसके पहले अक ही में सूत्र रूप में अपने ज्वलन्त जीवनादर्श की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए ये उल्लेखनीय वाक्य उन्होंने उद्घोषित किए थे—'मेरा मजहब हकपरस्ती (सत्य की उपासना) है, मेरी मिल्लत (धर्म-मत) कौमपरस्ती (राष्ट्र की पूजा) है, मेरी इबादत (पूजा) खलकपरस्ती (विश्व की उपासना) है, मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है, मेरी जायदाद मेरी कलम है, मेरा मन्दिर मेरा दिल है, और मेरी उमगें सदा जवान हैं।' सारे राष्ट्र ने, उसी वर्ष गांधीजी द्वारा प्रस्तावित असहयोग-आदोलन पर विचार करने के लिए कलकत्ते में आयोजित कांग्रेस के ऐतिहासिक विशेषाधिवेशन के अध्यक्ष-पद पर बिठाकर, अपने इस पके हुए राजनेता के प्रति पक्का विश्वास प्रकट किया।

'लोक-सेवक-मंडल'

इसके बाद तो जब नागपुर के अधिवेशन में कांग्रेस ने गाधीजी को पूरे विश्वास के साथ अपना कर्णधार बनाकर युद्ध की बिगुल बजाने का निर्णय किया और रणभेरी के उस निनाद के होते ही सरकार ने भी अपनी पूरी शक्ति के साथ दमनचक्र चलाना शुरू किया, तो आरम्भ में गांधीजी की नीति से सहमत न होते हुए भी लालाजी पूरी तरह बाँहें चढाकर मैदान में कूद पड़े! उन्होंने बात की बात में अपने प्रान्त के तमाम स्कूल-कॉलेजों को विद्यार्थियों से खाली करा दिया, यहाँ तक कि जिस डी० ए० वी० कॉलेज के वह कभी प्राण जैसे थे, उसकी भी सीढ़ियों पर बैठकर धरना देते वह हिचकिचाए नही! इसी बीच कार्यकर्त्ताओं को उच्च राजनीतिक शिक्षा देने के

लिए 'तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' के नाम से एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय विद्यालय की प्रस्थापना वह कर चुके थे, जो कालान्तर में 'सर्वेण्टस् ऑफ दी पीपुल सोसायटी' (अर्थात् लोक-सेवक-मडल) नामक प्रसिद्ध जनसंस्था के रूप में परिणत हो गया। इस संस्था ने गोखले की 'सर्वेण्टस् ऑफ इंडिया सोसायटी' की भाँति आगे चलकर कई एक देशभक्त जनसेवकों को जन्म देने का गौरव पाया।

कारावास :: कौंसिल-प्रवेश

स्वभावतः ही लालाजी द्वारा होनेवाली इस प्रकार की राष्ट्रीय जागृति की कार्रवाइयो को गोरी नौकरशाही चुपचाप सहन नही कर सकती थी! अतः ३ दिसम्बर, सन् १९२१ ई०, के दिन उन्हें गिरफ्तार करके उसने डेढ़ वर्ष की कैद तथा पाँच सौ रुपए जुर्माने की सजा ठोंक दी! इस कारागारवास से यद्यपि अवधि से पहले ही वह छोड़ दिए गए, किन्तु शीघ्र ही पुनः राजद्रोह के आरोप में वर्ष भर की कड़ी कैद पाकर जेल के मेहमान बना दिए गए। इस बार की कठोर कैद ने उनके स्वास्थ्य को इतना अधिक गिरा दिया कि उसमें क्षय-रोग तक के आसार प्रकट होने लगे! ऐसी स्थिति मे स्वभावतः ही उनके छुटकारे के लिए देश-विदेश में सब-कहीं जोरों से पुकार उठाई गई। फलतः काफी टालमटोल के बाद १६ अगस्त, सन् १९२३ ई०, को सरकार को उन्हें रिहा करने को विवश होना पड़ा!

तब तक देश के राजनीतिक वायुमडल ने कुछ और ही तरह का रग दिखाना शुरू किया था। उधर गांधीजी जेल के सीकचों की आड़ में बंद थे। इधर देशबन्धु दास और प० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में एक जबर्दस्त मोर्चा तैयार हो रहा था। साथ ही असहयोग के जमाने के हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के तार भी अब क्रमशः बिखर चले थे और तबलीग तथा शुद्धि के नारों के बढ़ते हुए स्वर के साथ देश के राजनीतिक आँगन में सांप्रदायिकता का रग चढ़ते नजर आने लगा था। इस बदलते हुए वातावरण का कुछ असर स्वभावतः ही हमारे चरितनायक पर भी पड़े बिना न रह सका। वह जहाँ कौंसिलों पर धावा मारने के लिए कटिबद्ध हुए, वहाँ जमाने की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप इन्हीं दिनों 'मुस्लिम लीग' के जवाब में 'हिन्दू-महासभा' के नाम से एक जातिवादी संस्था को जन्म देने में भी उन्होंने खुलकर योग दिया। वही सन् १९२५ ई० के उसके कलकत्तावाले अधिवेशन के सभापति भी बनाए गए। किन्तु जहाँ इस प्रकार जाति-रक्षा के तट की ओर वह डटकर बढ़ते दिखाई दिए, वहाँ राष्ट्रीयता की उपासना का भी क्रम उन्होंने ढीला न होने दिया। कारण 'हिन्दू-महासभा' को सहयोग देकर भी कांग्रेस के साथ अपना गठ-बधन उन्होंने यथापूर्व दृढ बनाए रक्खा। उनका हिन्दू-महासभा के साथ जो सबध था, वह था वस्तुतः बहुत-कुछ वैसा ही एक नाता, जैसा कि आर्य समाज के साथ भी उन्होने जीवन भर बनाए रक्खा था। वह यथार्थ रूप में सप्रदायवादी तो कदापि नहीं बन सकते थे! कारण, वह तो 'सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व' के कट्टर विरोधियों में से थे और उन्हीं का प्रभाव था कि हिन्दू-महासभा ने सन् १९२६ ई० के चुनाव मे अपनी ओर से कोई उम्मीदवार न खड़ा करने का फैसला किया था। यही नही, सन् १९२५ ई० मे तो प० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास के स्वराज्य-दल के साथ भी उन्होंने खुले दिल से पूर्ण सहयोग किया था और उसी की ओर से बडी धारा-सभा में जाकर कई दिनों तक उसकी डिप्टी-लीडरी भी उन्होने की थी! हाँ, पीछे मतभेद होने के कारण कुछ दिनों के लिए उससे अलग हो जाने को वह विवश हो गए थे। तब 'स्वतंत्र कांग्रेस-दल' के नाम से एक अलग पार्टी का संगठन कर, सन् १९२६ ई० के चुनाव में 'स्वराज्य-दल' का विरोध करते हुए, दलबंदी के जोश में एक साथ ही दो निर्वाचन-क्षेत्रो से खडे होकर दोनों ही से एसेबली के लिए चुने जाने में वह समर्थ हुए थे!

'सायमन-कमीशन' :: घातक लाठी-प्रहार

सौभाग्य से कांग्रेसी स्वराज्य-दल के साथ उनकी उपर्युक्त अनबन ज्यादा दिनों तक न बनी रही और सन् १९२७ ई० में प० मोतीलाल नेहरू के साथ पुनः उनका पूरा मेलजोल हो गया। फलतः सुप्रसिद्ध 'नेहरू-रिपोर्ट' तैयार करने में उन्होंने पडितजी को यथाशक्ति भरपूर योग दिया। किन्तु देश की किस्मत में अब अधिक दिनों तक उनके नेतृत्व का लाभ नही बदा था। क्योंकि इसके शीघ्र ही बाद १९२८ ई० में बदनाम 'सायमन-कमीशन' के भारत-आगमन के अवसर पर लाहौर में उसके प्रति विरोध-प्रदर्शन करते समय, एक दुष्ट गोरे सार्जण्ट

की लाठी के घातक प्रहार ने इस महान् जननेता के जीवन का तारतम्य एकाएक तोड़ दिया ! फलत: १७ नवम्बर, सन् १९२८ ई० के दिन राष्ट्र-यज्ञ के भावी अनुष्ठान में अपने महान् नेतृत्व और सहयोग से हमें सदा के लिए वचित कर, वह असमय ही परलोक के लिए प्रयाण कर गया। कह नही सकते कि यदि लालाजी अधिक दिन जीवित रहते, तो देश के आगामी चित्रपट मे अपनी ओर से कैसी अनूठी झाँकी वह प्रस्तुत करते ! कम से कम पजाब की राजनीति में तो जो घुन उनके बाद लगना शुरू हो गई, वह तो अवश्य ही किसी हद तक रुक जाती !

'वह एक व्यक्ति नहीं, संस्था थे'

तिलक, गोखले और मालवीयजी की भाँति लाजपतराय थे इस देश की राष्ट्रीयता का शिलारोपण करनेवाले हमारे एक महान् अग्रनेता। इसमे तनिक भी किसी को सदेह नही हो सकता कि इस महादेश के पुनरुत्थान के बृहत् आलेख में अन्य राष्ट्रविधायको के साथ-साथ उनका भी नाम सबसे अग्रिम पक्ति में सुनहले अक्षरो में जगमगाता रहेगा। उनकी प्रशस्ति मे इस युग के ससार के सबसे बड़े महापुरुष गांधीजी के निम्न ज्वलन्त शब्दों के उपरान्त फिर और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है कि वह एक व्यक्ति नही बल्कि सस्था थे और अपने देश से इसलिए वह प्रेम करते थे, चूँकि सारे ससार से उन्हे प्रेम था ! तभी तो समाज-सुधार, शिक्षाप्रसार, दलितोद्धार, आदि से लेकर मातृभूमि की राजनीतिक मुक्ति तक सभी विषयों के प्रति समान उत्साह के साथ वह अग्रसर हुए थे ! उन्होने क्या भारतवर्ष तथा क्या इगलैण्ड-अमेरिका, हर कही समान रूप से अपने बृहत् अनुष्ठान की सिद्धि करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी !

लाजपतराय का कार्यक्षेत्र कितना चहुँमुखी था, इसका कुछ अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि एक साथ ही काग्रेस, आर्य समाज और हिन्दू-महासभा जैसी तीन विशाल संस्थाओ के नेतृत्व की बागडोर उन्होने अपने जीवन में सँभाली थी ! वह एक अद्वितीय वक्ता तो थे ही, पर साथ ही एक प्रकाण्ड लेखक भी थे। इसके साक्षी 'आर्य समाज', 'तरुण भारत' (यग इंडिया), 'दु:खी भारत' (अनहैपी इडिया), 'भारत का राजनीतिक भविष्य' आदि उनके प्रसिद्ध ग्रथ और मेजिनी, गैरीबाल्डी, दयानन्द, शिवाजी, श्रीकृष्ण, आदि की वे छोटी-छोटी जीवनियाँ तथा अनगिनत राजनीतिक-सामाजिक ट्रैक्ट हैं, जिन्हे विशेषकर अमेरिका में उन्होंने प्रचारार्थ निकाला था ! पत्रकला के क्षेत्र मे तो उनकी निपुणता के प्रमाण मे, 'यग इडिया', 'वन्देमातरम्', 'पीपुल' आदि उनके द्वारा निकाले गए प्रसिद्ध पत्रो के नाम गिना देना ही पर्याप्त होगा।

गाधीजी के शब्दों में, 'ऐसे एक भी जनान्दोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमे अपने जमाने मे लालाजी सम्मिलित न हुए हों ! वस्तुतः सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी ! उन्होंने शिक्षालय खोले, दलितों के वे मित्र बने, और जहाँ-कही भी दु:ख-दैन्य दिखाई दिया, वही वे दौड़े गए !'

लाजपतराय की सबसे बड़ी खूबी थी उनकी अद्भुत भाषण-शक्ति। उसके द्वारा जनता के हृदय पर वह सहज ही काबू पा लेते थे। वह लोकरुचि को देखकर चलने मे बडे पटु थे और इसी हेतु राजनीतिक क्षेत्र में प्रायः तरह-तरह के पैंतरे बदलते वह देखे जाते थे। मौ० मुहम्मदअली ने ठीक ही कहा था कि 'वह थे तेजी से अपना रग बदल लेने की क्षमता से युक्त एक पटु कलाकार !' लाजपतराय के जीवन का महत्त्व इसी मे था कि उन्होंने जनसाधारण के मन मे आजादी की चेतना जाग्रत कर गुलामी की जजीरे तोड़ने के लिए उन्हें उभाड़ने मे यथाशक्ति कोई कसर न रहने दी ! और तो और, इसी 'एजिटेशन' या आन्दोलन मचाने के अनुष्ठान में अंत में अपने प्राणों तक की आहुति उन्होने दे डाली !

राष्ट्रीयता और आर्य संस्कृति दोनों के उपासक

संक्षेप मे, उनका एकमात्र धर्म था अपने राष्ट्र और जाति की हित-साधना ही ! उनका जीवन-प्रवाह एक ऐसे उमड़ते हुए नद का प्रवाह था, जो एक ओर शुद्ध राष्ट्रीयता तथा दूसरी ओर आर्य सस्कृति की अपनी महान् वसीयत दोनो के ऊँचे किनारों के कगारों को निरन्तर छूता हुआ आगे बढ़ा था ! इसीलिए कतिपय सकुचित दृष्टिवालों की निगाह मे कांग्रेस के आँगन मे इतना महत्त्व का स्थान पाकर भी वह संप्रदायवाद के रग से रँगे हुए दिखाई दिए ! किन्तु इस महान् देशभक्त को 'संप्रदायवादी' कहना हमारी राय में तो वस्तुतः राष्ट्रीयता का अपमान करने जैसा है !
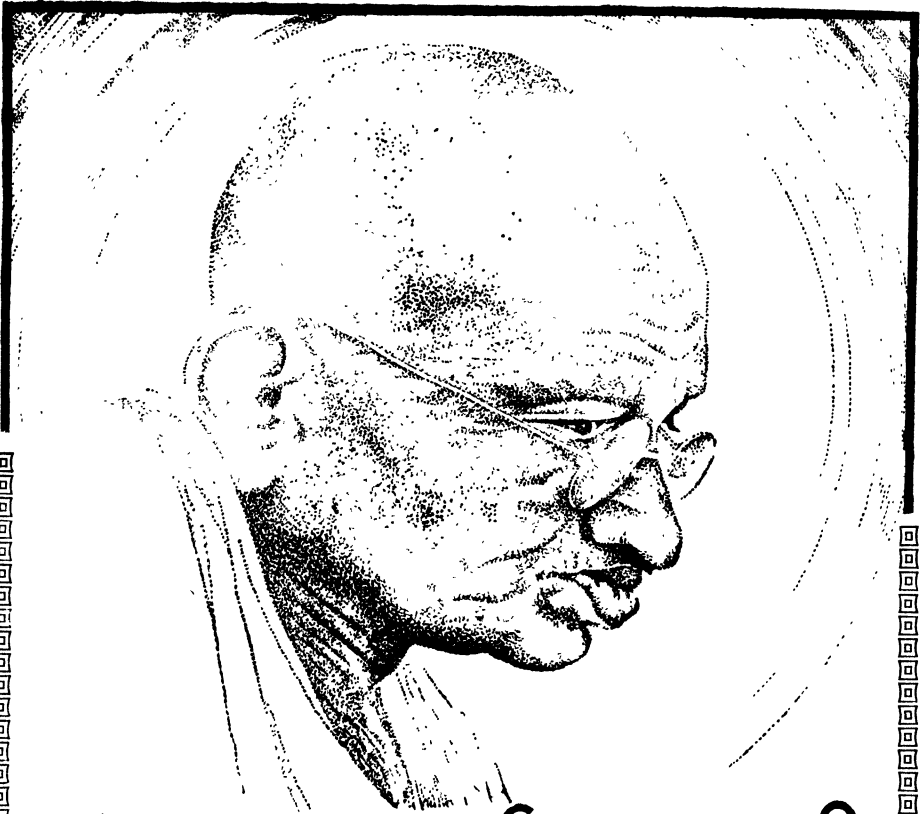
मोहनदास कर्मचन्द गान्धी

अपने दुबले-पतले कधों पर अठहत्तर वर्षों का भारी बोझ उठाए, फिर भी देखने में तपे हुए ताँबे की तरह तमतमाता हुआ, वह था डेढ़ पसलियो का एक अनोखा मानवीय अस्थिपजर ! उस पर कलश की भाँति सधा हुआ था एक बड़ा-सा घुटा सिर ! कहीं भी साधारण दुनियावी पैमाने के अनुसार मन को लुभाने जैसी बदन की काट या गठन की परछाई भी नही ! एक विचित्र ढंग के चौड़े कान ! उभरकर बाहर निकले हुए ओठ ! चश्मा चढ़ी हुई आँखे ! बैठे-से गाल ! दबी-सी ठोढ़ी ! कुछ उठी, कुछ मुड़ी हुई-सी नाक ! और हँसते समय खास तौर से ध्यान खीचनेवाला पोपला मुँह ! और पहनने को क्या ? पैरो में मामूली चप्पल तथा कमर में भिखारियों-जैसे घुटनो तक के लँगोटीनुमा अँगोछे के अलावा, कधों पर पड़ी केवल खद्दर की एक सफेद सूती चादर ! यदि बाहरी दिखावे ही की बात कही जाय, तब तो बस यही थी उस युग-पुरुष की तस्वीर—

उस विश्ववंद्य महात्मा की, जिसके कि व्यक्तित्व में इस महादेश की त्रस्त मानवता ने इस युग में मुक्ति का एकमात्र आश्रय पाया ! जो था भौतिकवाद के धूम्राच्छादित खड्ड मे छटपटा रहे रक्त से लथपथ घायल ससार का एकमात्र आशीर्वाद और इस पीड़ित राष्ट्र का सच्चा त्राता एव मुक्तिदाता ! निश्चय ही इस युग की अनेक पहेलियों मे वह भी था एक अद्‌भुत पहेली-जैसी ही । उसके इस बाह्य कलेवर को देखकर भला एकाएक कौन कभी यह समझ सका होगा कि अपने जमाने में इसी डेढ पसलियों के आदमी में मानव की मानवता देवत्व की उसी ऊँचाई तक ऊँची उठ सकी थी, जैसी कि भगवान् श्रीकृष्ण और करुणावतार बुद्ध, प्रेमयोगी ईसा और महात्मा जरथुस्त्र के व्यक्तित्व में कभी उठते दिखाई दी थी ?

वस्तुतः जिस किसी ने भी उसे देखा, वह पहले-पहल तो आश्चर्य से एकदम अवाक् हुए बिना न रह सका ! प्रत्येक के मन में यही अचरजभरा प्रश्न उठा—क्या इसी मुट्ठीभर हड्डियों के खिलौने-जैसे आदमी ने इस युग की उस दुर्द्धर्ष आँधी को जगाया, जिसने डेढ़ सौ वर्षों से इस देश में ऊँचा सिर किए डटे रहनेवाले एक सुदृढ़ साम्राज्य का गढ़ जड़ से हिलाकर हमें राजनीतिक मुक्ति का वरदान दिलाया ? क्या इसी व्यक्ति को उसके शत्रुओं तक ने 'दूसरा ईसा मसीह' कहकर पुकारा और इस देश के कोटि-कोटि नर-नारियों की भावदृष्टि में क्या वही आखिर बन गया एक अवतारी पुरुष ?

विश्वात्मा के तेज से प्रकाशित महान् व्यक्तित्व

पर जहाँ प्रत्येक के मन में यह गूढ प्रश्न उठा, वहाँ साथ ही साथ, जिस किसी ने भी उसे देखा उसकी काया में एक अद्‌भुत कपन, एक पवित्र सिहरन की-सी कँपकँपी भी विद्युल्लहरी की भाँति सिर से पैर तक दौड़े बिना न रही—वैसी ही कुछ जैसी कि पतितपावनी गगा में पहले-पहल डुबकी लगाने या उत्तुङ्ग हिमालय के किसी धवल हिम-शिखर के एकाएक दर्शन हो जाने पर हमारे शरीर में एकबारगी ही दौड़ जाती है ! उसका यही रहस्य-मय जादूभरा प्रभाव ही तो विवश कर देता था कारागार के सीखचों की आड़ में बार-बार उसे ठेलनेवाले विरोधियों तक को उसके महान् व्यक्तित्व और आत्मतेज के आगे प्रणिपात करने और केवल ईसा, सुकरात या बुद्ध ही से उसकी तुलना करने के लिए ! कारण, उसके अस्थि-मांस-निर्मित उस डेढ़ पसलियों के क़लेवर में चाहे दुनियावी पैमाने के अनुसार किसी प्रकार का आकर्षण या सौंदर्य का पुट न रहा हो तो क्या, पर उसकी महान् आत्मा में तो समस्त विश्व की अन्तरात्मा का प्रखरतम तेज उद्‌भासित था ! उसकी आत्म-ज्योति के अमित सौन्दर्य पर बड़े-से-बड़े कलाधरों की भी तूलिकाएँ लट्टू होकर निछावर हो सकती थीं और उसकी जीवन-कहानी में पाए जा सकते थे न जाने कितने ही महाकाव्यों के लिए मौलिक बीज !

गगनस्पर्शी ऊँचाई

तभी तो उसके जीवन-काल ही में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए इस देश के हृदय-सम्राट् जवाहर-लाल नेहरू ने उसके बारे में एक बार कहा था—

'यह नाटा-सा आदमी ऊँचाई में ऐसा गगनस्पर्शी है कि अपने-अपने ढग से दूसरे सभी लोग अपनी-अपनी परिधि मे महानता से युक्त होने पर भी उसके आगे कद में एकदम छोटे ही दिखाई देते है ! वह हमारी आज की इस पारस्परिक घृणा, प्रतिहिंसा और परमाणु-बम जैसे घातक उपकरणों की दुनिया में शक्ति और सद्‌भाव के प्रतीक के रूप में, एक बिल्कुल ही निराले आदर्श को लेकर, चुनौती की तरह सबसे अलग खड़ा दिखाई देता है । जब कि उसके आसपास का तृष्णाबद्ध समाज पागलों की तरह नित नए विलास के साधन और यांत्रिक उपकरणों ही की खोज में तल्लीन है, वह अपनी उस लँगोटी और मिट्टी की कुटिया ही को अपनाकर संतुष्ट है ! उसे मनुष्य की इस धन-दौलत और शक्ति की होड़ा-होड़ में भाग लेते हम नही देखते—वह तो वस्तुतः इससे उल्टी ही दिशा की ओर अपनी आँखे लगाए हमें दिखाई पड़ता है !

'फिर भी उसकी उन सौम्य किन्तु सुदृढ़तासूचक आँखों से शक्ति का कैसा प्रखर स्रोत उमड़ते हम देखते है ! उसके उस जराग्रस्त अस्थिपजर में कैसा अद्‌भुत बल और प्रताप है, और किस प्रकार उससे निरन्तर प्रवाहित शक्ति की वह लहर उमड़कर दूसरों तक को सबल बना देती है ! आखिर कहाँ है उसकी इस सारी अटूट शक्ति का मूल स्रोत ? कहाँ से उसे यह सामर्थ्य और प्रभुत्व प्राप्त हो पाया है ? क्या उसने भी कहीं उस प्राणवाहिनी जीवन-धारा के किसी छिपे निर्झर में से ही तो अमृतपान नहीं किया है, जोकि पिछले

युग-युगादिकाल से भारत को अपनी शक्ति प्रदान कर निरन्तर उसे पोषित करती आई है ?'*

हम कैसे उसका अन्दाजा करें ?

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गान्धी, जिनकी कि आरती अव हम उतारने जा रहे है, इस युग के न केवल भारत ही के बल्कि सारे समार के सबसे महान् साथ ही सबसे अधिक प्रख्यात महापुरुष थे ! पड़ौसी तिब्बत से सूदूर अलास्का तक, पृथ्वी का ऐसा कोई कोना नही बचा था, जहाँ कि उनका नाम न पहुँच चुका हो ! बल्कि पिछले वर्षों में तो बाहरी दुनिया गान्धी ही को भारतवर्ष और भारत-वर्ष को गान्धी समझने लगी थी ! ऐसी विश्व-विश्रुत विभूति का भी क्या किसी को परिचय देने की आवश्यकता हो सकती है ? और फिर यदि हम उसका परिचय देना भी चाहे, तो हमारे लिए, जो कि उसके इतने निकटस्थ थे कि घुल-मिलकर उसके एक अंग जैसे बन गए थे, क्या यह कोई सरल कार्य है कि उसके बारे मे कुछ कह सके ?

वस्तुतः जवाहरलाल जैसे लेखनी के धनी को भी तो उस पर कलम उठाते समय अपनी 'झिझक' जाहिर करते हुए यह कहने को विवश होना पडा था कि 'हम जो इस जमाने में बढे और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अन्दाजा करे ? हमारे रग और रेशे मे उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े है !' और सच पूछिए तो थोड़े मे यह बता पाना भी क्या कोई खिलवाड़ है कि वह क्या था ? जैसा कि श्री हेनरी पोलक ने कहा था, वास्तव मे 'हम यह नही बता सकते कि गान्धी यह चीज है, वह चीज है ! हम अधिक से अधिक निश्चयपूर्वक केवल यही कह सकते है कि वह यहाँ है, वहाँ है !' क्योंकि गान्धी केवल एक व्यक्तित्व मात्र तो था नही, वह तो था एक पूर्ण विचारधारा, एक व्यापक नीति ! और इन सबसे कही अधिक तो वह था आधिभौतिक उत्कर्ष की विफलता का अनुभव कर रही भ्रांत थकित मानवता का एक विश्वजनीन आशा-स्वप्न एवं हाड़मांस के पुतले इस देश के चालीस करोड़ निवासियों के विगत अर्द्ध-शताब्दीव्यापी अपूर्व पुनरुत्थान का मूर्तिमान् इतिहास! तो फिर क्योंकर हम उसे इन थोड़ी-सी पक्तियों की परिधि में बाँधने में समर्थ हो सकते हैं ? कैसे एक ही चित्र में एक साथ ही उसके सभी पहलुओं के व्यापक चित्रपट का दिग्दर्शन कराना संभव है ? वह तो सभी युग-प्रणेता महापुरुषों की तरह अप्रमेय था, परिभाषा से परे की वस्तु !

इस युग के भारत की आत्मा

पतन के अतल गर्त्त की ओर फिसलते चले जा रहे आज के इस मानवतनधारी नरपशु को पुनः अपने वास्तविक धर्मपथ पर लौटा ले आने तथा 'हैवान' की इस दशा से उबारकर उसे सच्चा 'इसान' बनाने के हेतु यह महापुरुष, अपने जीवनव्यापी पुण्यानुष्ठान की पूर्णाहुति के रूप मे अपने प्राणो की बलि चढाकर, सचमुच ही बन गया इस युग का दूसरा 'ईसा मसीह' ! वह हमारी इस रक्तरजित, स्वार्थसिचित, गँदली दुनिया की सफाई में ही आजीवन लीन रहकर आखिर बन गया उस शाश्वत अमर लोक का वासी, जहाँ कि अनन्तकाल तक विश्व की गिनी-चुनी सर्वोच्च विभूतियो मे उसका स्थान निर्दिष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में उसकी महत्ता की नाप-जोख की अब आवश्यकता ही क्या रह गई है ?

भला कौन कभी जानता था कि उसके उस अद्भुत जीवन-नाटक का अतिम पटाक्षेप भी ऐसा ही असाधारण और अद्भुत होगा ? किसे मालूम था कि वह सामने आएगा बलिदान की पराकाष्ठा का ऐसा दिल हिला देनेवाला स्वरूप लेकर और वह प्रस्तुत करेगा महानता की गगनभेदी ऊँचाई की ऐसी दिव्य झाँकी ? कब किसे मालूम था कि उसकी वह अमर कहानी अंत मे उत्कर्ष की इस चरम सीमा पर जाकर समाप्त होगी ? उसकी वह जीवन-कहानी भी क्या थी ! वह तो न केवल उसके ही अपने व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और विकास की जटिल कहानी थी, प्रत्युत विकारों के घटाटोप मे प्रगति की नवीन पथरेखा के निर्माण का निरन्तर प्रयास करते रहनेवाले मानव के चिरन्तन सत्यान्वेषण की भी एक प्रतीक-सी थी ! वह मनोवैज्ञानिको के लिए एक अध्ययन की चीज थी। कवियो के लिए उच्चतम आदर्श की जगमगाती हुई प्रेरक सामग्री उसमे भरी थी ! इतिहासकार उसमें पा सकते थे आधुनिक युग की उमड़ती हुई क्रान्तिधारा का एक धधकता अंगारवत् आलेख !

यों तो हम पढा करते थे नितप्रति ही अपनी पाठ्य-पुस्तकों मे मानव को मानवता की राह पर लाने

*गान्धीजी की ७५वीं वर्षगांठ के उपलक्ष में आयोजित भेंट-ग्रंथ की प्रस्तावना से।

के हेतु आज से हजारों वर्ष पूर्व ही ऋषि सुकरात के विषपान और हजरत ईसा मसीह के सूली पर चढ़ने की वे गौरवगाथाएँ ! फिर भी तर्क-वितर्क के जंजाल में उलझा हुआ हमारा क्षुद्र मन प्रायः अतिरंजित पौराणिक कथाएँ समझकर सच्चे इतिहास की कोटि में इन कहानियों को रखते हुए हिचकने लगता था। किन्तु गान्धीजी ने तो अभी-अभी इतिहास के खुले आँगन में, सारे संसार की आँखों के आगे ईसा और सुकरात के प्राणदान के उस महायज्ञ की फिर से पुनरावृत्ति करके आज के सभी तर्क-वादियों को सदा के लिए एकदम भौंचक्का-सा कर दिया ! उन्होंने विश्व-कल्याण के हेतु भगवान् शिव के हलाहल विष-पान की उस पुराण-प्रसिद्ध मंगल-कथा का मानो एक जीता-जागता भाष्य अपनी जीवन-लीला के अतिम अध्याय द्वारा प्रस्तुत कर दिया।

उसे देखते हुए भला किस प्रकार उनकी अति-मानवता, उनकी अलौकिकता और देवत्व में विश्वास जमाए बिना अब हम रह सकेगे ? निश्चय ही वह उसी प्रकार के एक महान् अवतारी पुरुष थे जैसे कि श्रीकृष्ण और राम, बुद्ध और महावीर, जर-थुश्त्र और ईसा अथवा रामकृष्ण परमहस हुए। वह तो थे इस युग की भारत की आत्मा, वल्कि साक्षात् विश्वात्मा ही की एक विभूति, जो कि छल-प्रपच के मायावी मकड़ी-जाल में उलझे हुए हम पामर प्राणियों को मुक्ति का प्रकाश दिखाने के लिए ही शरीर धारण कर हमारे बीच आ खड़ी हुई थी !

अमित वरदानी

अपने उस घटनापूर्ण जीवनकाल मे गान्धीजी क्या-क्या वरदान हमें न दे गए ? क्या-क्या पाठ वह हमे न सिखा गए ? उन्होने ही तो हमें पगु दशा से मुक्ति दिलाकर इस युग में अपने पैरों पर खड़ा किया और वास्तविक रूप में निर्भय वनाया ! उन्होने ही तो फिर से हमारे अतस्तल में पिछले दिनो गँवा दिए गए अपने आत्मविश्वास की भावना को मजबूत बनाकर, केवल आत्मबल के बल पर अपनी हथकड़ी-बेड़ियो को तोड़ने का अमोघ मत्र हमें सिखाया। उन्होने 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के उस पुरातन आदर्श ही के प्रति पुनः सबल रूप से हमें प्रेरित किया, जोकि हमारी सस्कृति की वास्तविक रीढ़ है एवं हमारी प्राणधारा का अमर जीवन-स्रोत है ! सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि अपने इस महान् अनुष्ठान को अकेले ही हाथ कितना व्यापक उन्होंने बना डाला ! किस प्रकार हमारे राष्ट्रीय जीवन के अंग-प्रत्यंग को अपने जादूभरे संस्पर्श द्वारा एक नवीन स्फूर्ति से उन्होंने सजग बना दिया ? खादी, चरखा, ग्रामोद्योग, गोसेवा, प्राकृतिक उपचार, हरिजनो-द्धार, राष्ट्रभाषा-प्रचार, महिलाओ का उत्थान, शिक्षा-विधान, मादक वस्तुओं का निषेध, समाज-सस्कार, आदि - आदि सामान्य कार्यों से लेकर चालीस करोड़ मानवों के राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक अभ्युत्थान विषयक ऐसा कौन-सा क्षेत्र रहा, जो कि उनकी छाया के प्रभाव से अछूता रह गया हो ?

तो फिर कैसे हम उनकी व्यापक देन को शब्दों की सीमित तराजू पर तौलकर उनके प्रति अपने अगाध ऋण का अनुमान करे ? सच तो यह है कि यदि इस महादेश के पार्थिव और सांस्कृतिक स्वरूप की विशद पृष्ठभूमि में नगाधिराज हिमा-लय अथवा गंगा-यमुना की पुनीत धाराओं की महत्ता तथा युगादिकाल से उनके द्वारा अपने ऊपर लादे जा रहे राष्ट्र-ऋण की अमित राशि का कोई आँक हम लगा सकें, तो संभव है कि गाधीजी के महत्त्व और मूल्य का भी पूरा-पूरा अदाज हम कर सकें !

इस युग के प्रधान शिल्पी

दूसरे शब्दों मे, वह अब कोरे नाप-जोख और तर्क-वितर्क की वस्तु रहे ही नहीं—वह तो बन चुके हैं हमारे लिए केवल असीम श्रद्धाभावपूर्वक वंदना करने योग्य एक अन्यतम राष्ट्र-विभूति, हमारे राष्ट्र-पिता 'बापू' ! अतः अपनी मातृभूमि की गौरव-प्रशस्ति के इस सक्षिप्त अभिलेख में उनका परिच-यात्मक चित्र अकित करते समय, हमारे लिए श्रे-यस्कर यही है कि आज के युग के निर्माणकर्त्ता सर्वप्रधान शिल्पी के रूप में उनके निश्चित उच्च आसन को एक स्वयसिद्ध ध्रुव सत्य हम मान ले। साथ ही विशेष ऊहापोह में पड़े बिना, केवल सरल ढग से उनके महान् जीवन एव चरित्र की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए, अपनी श्रद्धांजलि के दो पुष्प उन्हे समर्पित कर लेने में ही हम संतोष कर लें ! कारण, इस पोथी के परिमित आकार और उनके दिग्गज व्यक्तित्व तथा जीवन-कार्य के वृहत् विस्तार को देखते हुए अधिक से अधिक यही भर यहाँ किया जा सकता है !

आरंभिक पृष्ठभूमि :: कुप्रवृत्तियों से संघर्ष

हाँ, तो आज से अठहत्तर वर्ष पूर्व, २ अक्टूबर, सन् १८६९ ई०, के दिन काठियावाड़ के समुद्रतट पर स्थित पोरबन्दर (सुदामापुरी) नामक प्रसिद्ध बस्ती में, महाभाग्यशाली कर्मचन्द (अथवा 'कबा') गान्धी के घर इस युग का यह महान् तपस्वी हमारे बीच अवतीर्ण हुआ था। यह था उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल का वह चिरस्मरणीय दशक, जिसमें कि एक के बाद एक क्रमशः रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, गोपाल कृष्ण गोखले, लाजपतराय और चित्तरजनदास जैसी समकालीन भारत की अन्य अनेक विशिष्ट विभूतियो ने भी संयोग से अपना शरीर धारण किया था!

जिस घराने में गान्धीजी का जन्म हुआ था, वह काठियावाड़ का एक प्रतिष्ठित घराना था। उनकी तीन पुश्ते लगातार भिन्न-भिन्न रियासतों में दीवान-गीरी (मंत्रित्व) का कार्य करते हुए खप चुकी थी। अतएव मोहनदास को दुनिया के घाट पर उतरते ही आरभ में एकदम आरामतलबी ही का वातावरण मिला। इसके अतिरिक्त कट्टर रूढ़िबन्धन के दायरे में बँधे रहने के कारण, जब केवल तेरह वर्ष की आयु ही में उनका विवाह भी हो गया, तो स्वभावतः ही उस छोटी-सी उम्र में भी संयम की अपेक्षा विषय-विकारों की प्रवृत्तियाँ मन में काफी जोर भरने लगी! किन्तु जन्मजात सस्कारो की कृपा कहिए, या उनके जीवन-लेख में आदि ही से विधाता द्वारा लिख दिए गए भावी उत्कर्ष की लकीरों के प्रभाव का जादू समझिए कि विकार की उस आँधी के साथ ही साथ उनके अन्तस्तल में विवेक की भी शक्तियाँ दिन-पर-दिन अपना प्रभुत्व प्रकट करने लगी। इस प्रकार उस किशोरावस्था ही मे भलाई और बुराई की प्रवृत्तियों के बीच एक अनवरत सग्राम उनके मस्तिष्क मे उठ खड़ा हुआ, जिसने अन्त मे सदा के लिए पतन के ढालू रास्ते से मोड़कर उन्हे सत्पथ का सच्चा राही बना दिया!

अपने इस आरंभिक अन्तर्द्वन्द्व का बहुत ही चुभता हुआ सजीव चित्रण गान्धीजी ने अपनी प्रसिद्ध गुजराती आत्मकथा—'सत्य ना प्रयोगो'—में किया है। उन्होंने विपथ की ओर अपना जो सबसे पहला कदम बढ़ाया था, वह था वर्जित खान-पान की दिशा में! उनका शरीर तो जन्म ही से बड़ा दुबला-पतला कमजोर और डेढ़ पसली का-सा था। अतएव दोस्तों द्वारा जब यह सुझाया गया कि बिना मास खाए न तो बदन ही हृष्ट-पुष्ट होना संभव है, न जन्मजात सुस्ती और झेपूपन दूर होना ही, तो अपने परिवार के कट्टर निरामिषभोजी होने पर भी वह गुपचुप आमिष-भोजन के लिए तत्पर हो गए। इसी उद्देश्य से एक दिन छिपकर अपने एक कुमित्र के साथ एक एकान्त स्थल पर वह पहुँचे! परन्तु जब निषिद्ध आहार गले से नीचे पहुँचा, तो पहले ही दिन ऐसा मालूम हुआ मानो पेट मे बकरा पुनर्जीवित हो 'बे-बे' की आवाज लगा रहा हो! अतः इस कार्य मे फिर आगे बढने की उनकी हिम्मत ही न हुई!

इसी तरह बीड़ी-सिगरेट पीने की कोशिशे भी विफल रही और घर में चोरी करने के प्रयास मे भी हाथ अधिक आगे न बढ पाया! यही नही, एक दिन एक दुस्साहसी साथी बहकाकर इन्हें चकले (वेश्यालय) की भी हवा खिलाने ले गया। किन्तु अपने झेपूपन की वजह से कहिए, या दृढ नैतिक सस्कारो के प्रभाव से, उल्टे पैरो ही वहाँ मे भी उन्हें वापस आना पडा! सच तो यह था कि ये सब काम करने पडते थे केवल गुपचुप या चोरी से ही। उनके दुराव-छिपाव के लिए कोई न कोई बहाना बनाकर माता-पिता के आगे झूठ बोलना नितान्त आवश्यक हो जाता था। पर यही तो एक ऐसी बात थी, जो कि उनके वस की न थी। कारण झूठ बोलने को न तो कभी इनका मन राजी हुआ और न होने की आशा ही थी।

शिक्षा-क्रम :: इंगलैण्ड में

इसी प्रकार विकार और विवेक की प्रवृत्तियों के तुमुल सघर्ष में आन्दोलित-विलोड़ित होते हुए मोहन-दास किशोरावस्था को लाँघकर यौवन के द्वार की ओर बढ़े। इन्ही दिनों १८८५ ई० मे उनके पिता की मृत्यु हो गई। साथ ही उसी वर्ष उनकी अल्पवयस्का पत्नी कस्तूरबाई ने अपनी पहली सतान—एक पुत्र—को जन्म दिया, जो अपरिपक्व होने के कारण दो-चार दिनों मे ही चल बसा! इसके दो वर्ष बाद मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेने पर वह विशेष अध्ययन के लिए भावनगर के 'श्यामलदास कॉलेज' मे प्रविष्ट हुए, किंतु इसी समय उनके पिता के एक मित्र के अनुरोध से बैरिस्टरी के लिए उन्हे विलायत भेजने की चर्चा उठी। बड़ी मिन्नतों के बाद अपनी

कट्टर धर्मावलम्बी माता और बड़े भ्राता को इस प्रस्ताव के लिए वह राजी कर पाए और ४ सितंबर, १८८८ ई०, के दिन आखिर बबई से इंगलैण्ड के लिए रवाना हुए। चलते समय उन्हें अपनी माँ के आगे खास तौर से यह प्रण करना पड़ा कि विदेश में मांस-मदिरा और परस्त्रीसंग के दुर्व्यसनों के कभी समीप भी वह न फटकेंगे! यह एक उल्लेखनीय बात है कि युवक गान्धी ने अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी तरह निभाई! यद्यपि इंगलैड जैसे मासाहारी और सामाजिक आचरण मे स्वच्छन्द देश में निरामिष भोजन की व्यवस्था करने एव शराब तथा स्त्रियों की सगति से दूर रहने में उन्हे कोई कम मुसीबत का सामना नही करना पड़ा था! आरम्भ के दिनों मे तो इन्हें भी कुछ समय तक अन्य लोगो की तरह 'ड्रेस-सूट' सिलवाकर तथा पाश्चात्य ढंग का नृत्य सीखकर 'सभ्य' बनने की सनक लगी थी। परन्तु यह झेपू मिजाज के जो थे, इसलिए फैशन की दुनिया में ज्यादा पैर न पसार सके!

धर्मग्रंथों का प्रभाव :: रायचन्द भाई

वस्तुतः आगे चलकर कठोर आत्म-सयम, त्याग, तप, सत्याचरण और आस्तिकता के जो भाव उनके चरित्र में प्रखर रूप से प्रस्फुटित होनेवाले थे, उनके बीज उनके मन में इस विद्यार्थी-काल ही मे गहराई के साथ अकुरित हो चले थे। उन्होने एक कट्टर आस्तिक वैष्णव परिवार मे जन्म लिया था। अतः उनके मन पर स्वाभाविक रूप से बचपन ही से नैतिकता विषयक अत्यन्त दृढ सस्कार जमे हुए थे। इसीलिए चारो ओर तरह-तरह के आकर्षणो के जजाल से घिरे रहकर भी उनका आतरिक विवेक उन्हे आसपास की खाइयों से निरतर बचा-बचाकर सत्य और अहिसा के पथ पर ही लिए चला जा रहा था। अपने इस आध्यात्मिक और नैतिक विकासक्रम मे उन्हे गीता, बाइबिल और बुद्ध-चरित्र तथा टाल्स्टाय एवं थियासाफी के साहित्य से अनमोल सहायता मिली। इस साहित्य के प्रति वह इन्ही दिनो पहले-पहल आकृष्ट हुए थे। किन्तु इन सबसे कहीं अधिक सशक्त प्रभाव जो उनके जीवन पर पड़ा, वह था श्री रायचन्द भाई नामक एक पहुँचे हुए आत्मदर्शी साधक का। गान्धीजी का उनसे परिचय बैरिस्टरी की सनद लेकर १८९१ ई० में वापस स्वदेश आने पर बम्बई में हुआ था। रायचद भाई के संसर्ग मे आकर गान्धीजी की दबी हुई आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार खिल उठी, जैसे कि सूर्य की किरणों का संस्पर्श पाकर कमल की पखुड़ियाँ प्रस्फुटित हो जाती है! तभी से दृढ़ निश्चयपूर्वक आत्मोत्थान के पथ पर आरूढ़ होकर उन्होंने अपने जीवन को पूर्णतः सत्य के एक विशद प्रयोग में परिणत कर दिया! उन्होने अपनी 'आतमकथा' मे लिखा है कि 'बहुतेरे धर्माचार्यों के ससर्ग मे मै बाद में आया हूँ और प्रत्येक धर्म के प्रतिपादको से मिलने का प्रयत्न मैंने किया है, किन्तु जो छाप मेरे ऊपर रायचद भाई ने स्थापित की, वह दूसरा कोई न जमा सका।'

यद्यपि साथ ही साथ उन्होने यह बात भी स्पष्ट कर दी थी कि 'रायचन्द भाई के प्रति इतना प्रगाढ आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें अपने हृदय में धर्मगुरु का स्थान नही दे सका! तत्सबधी मेरी खोज तो अब भी जारी ही है!'

काले-गोरे के भेद का प्रथम कटु अनुभव

स्वदेश वापस आने पर बैरिस्टर गान्धी ने बबई में अपनी वकालत शुरू की। परन्तु लगातार छः महीने तक डटे रहने पर भी जब उन्हें इसमें सफलता न मिली, तब राजकोट में डेरा-तबू डालकर अर्जी-दावे लिखकर ही वह सौ दो सौ प्रति माह कमाने लगे। सो भी अपने बडे भाई के प्रभाव से ही वह कर पाते थे, जोकि उन दिनों पोरबदर के राजा के सलाहकार मत्री थे। यही पहले-पहल भारतीयों की गुलामी और उनके प्रति अग्रेज शासको के अपमानजनक व्यवहार तथा काले-गोरे के भेद का कटु अनुभव करने का मौका उन्हे मिला। बात यों हुई कि विलायत की पहचान निकालकर वह एक दिन अपने बडे भाई का कोई काम साधने के लिए स्थानीय पोलिटिकल एजेण्ट से मिलने गए। पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उस गोरे अधिकारी ने सारी जान-पहचान को ताक पर रखकर इनकी बात सुनना तो दूर रहा उल्टे चपरासी से धक्के दिलवाकर दफ्तर से इन्हे बाहर निकलवा दिया! इस घटना ने युवक गान्धी के दिल पर गहरी ठेस पहुँचाई! उसी ने पहले-पहल उनके मन में अपने देश की गुलामी एवं विदेशी शासन की जंजीरों का भान कराकर वह राजनीतिक चेतना जाग्रत की, जिसने अनतिदूर भविष्य ही में उन्हें इस देश की आजादी के लिए कफनी पहन लेनेवाला फकीर बना दिया!

अफ्रीका में :: अपमानजनक दुर्व्यवहार

इन्हीं दिनों पोरबंदर की एक मेमन व्यापारिक फर्म की ओर से एक मुकदमे के सिलसिले में अफ्रीका जाने का निमंत्रण पाकर वह पुनः स्वदेश से बाहर चले दिए। किन्तु अफ्रीका के उस अजीब प्रदेश में आकर रगभेद के कारण होनेवाले अपमान तथा एक पराधीन जाति के प्रति गोरे शासकों के दुर्व्यवहार का और भी गहराई के साथ उन्हें पग-पग पर कटु अनुभव होने लगा। कहते है, पहले ही दिन जब वह डर्बन की अदालत में पहुँचे, तो मजिस्ट्रेट से अपनी देशी पगड़ी उतारने के सवाल पर उनकी गहरी ठन गई। अत में विरोध प्रकट करने के लिए उन्हें अदालत से उठकर चले आना पड़ा !

यही नही, उसी मुकदमे के सिलसिले में डर्बन से प्रिटोरिया जाते समय, पहले दर्जे का टिकट होने पर भी केवल भारतीय होने के कारण उन्हें उतरकर आखिरी डिब्बे में बैठने को कहा गया। अस्वीकार करने पर एक सिपाही ने उन्हें हाथ खीचकर प्लेटफार्म पर धकेल दिया तथा उनका सारा सामान भी फेक दिया। वह सारी रात उन्होंने ठिठुरते हुए रास्ते के उस स्टेशन पर ही काटी ! इसी तरह आगे चार्ल्सटाउन से जोहान्सबर्ग को घोड़ागाड़ी से यात्रा करते समय भी पावदान पर बैठने से इन्कार करने पर एक गोरे ने इन्हें खूब मारा-पीटा। तदनन्तर पुनः जोहान्सबर्ग से प्रिटोरिया के लिए रेल पकडने पर पहले तो फर्स्ट क्लास का टिकट ही न मिला और काफी जोर लगाने पर मिला भी, तो रास्ते में फिर गार्ड ने उनके साथ गाली-गलौज किया तथा उतरकर तीसरे दर्जे में जाने को कहा गया !

ट्रान्सवाल के भारतीयों की थर्रा देनेवाली स्थिति

लेकिन वाद में उन्हें मालूम हुआ कि ये घटनाएँ तो यहाँ आए दिन की वाते थी—वे नित्य ही घटा करती थी ! यही नही, ट्रांसवाल में तो कोई भी भारतीय गोरों की तरह न तो सड़कों के फुटपाथ पर ही चल पाता था, न परवाने के बिना रात को ९ वजे के बाद कोई घर से बाहर ही निकल सकता था ! साथ ही प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति ३ पौंड (लगभग ४० रुपए) प्रवेश-फीस के रूप में उसे कर भी देना पड़ता ! इस पर भी उसे वहाँ न तो जमीन की मालिकी का ही अधिकार था, न वोट देने का। वह तो भारतवर्ष के 'अछूतों' से भी गया-बीता वहाँ माना जाता था ! उसे वहाँ नफरतभरे 'कुली' शब्द द्वारा ही पुकारा जाता था, चाहे कितना ही धनी अथवा उच्च पेशेवर वह क्यों न हो !

आन्दोलन का सूत्रपात

इन थर्रा देनेवाली बातों का परिचय पाकर गांधी-जी का माथा ठनका और इस अमानुषिक स्थिति के विरुद्ध तनकर खड़ा होने के लिए तत्क्षण ही अपने प्रवासी देशबन्धुओं को जगाने का सुदृढ संकल्प उन्होंने कर लिया ! यहीं से दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा उठाए गए जोरदार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इस आन्दोलन ने उन्हें एक नए मुक्तिदाता के रूप में दुनिया के आँगन में खड़ा कर दिया। यह लडाई ही वह आरंभिक प्रयोगशाला थी, जिसमें अहिंसात्मक सत्याग्रह-रूपी अमोघ अस्त्र का पहले-पहल आविष्कार कर उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में अधिकार-प्राप्ति के लिए पहली बार सामूहिक रूप से उसका सफल प्रयोग किया। साथ ही, यही उनके अपने निजी जीवन और व्यक्तित्व का भी यथार्थ प्रस्फुटन और विकास हुआ तथा अहिंसा, सत्य एव त्याग के प्रति उनकी वह सुदृढ आस्था जमी, जो आगे चलकर उनके चरित्र में इतने प्रखर रूप से प्रकाशित होते दिखाई दी।

स्थानाभाववश उनके इस महत्त्वपूर्ण प्रथम सग्राम का सुविस्तृत विवरण प्रस्तुत करने तथा उनके महान् व्यक्तित्व एव चरित्र के क्रमगत विकास की आरभिक सीढ़ियों की संपूर्ण रूपरेखा अकित करने में हम यहाँ असमर्थ है। केवल उसकी कुछ मुख्य-मुख्य कड़ियों का ही निर्देश यहाँ किया जा सकता है। उनकी यह लड़ाई सन् १८९३ ई० में पहले-पहल अफ्रीका की भूमि पर कदम रखने की घड़ी से लेकर सन् १९१४ ई० में जनरल स्मट्स के साथ अपनी विजय-सधि के ऐतिहासिक दिवस तक लगभग बीस वर्ष तक चालू रही थी। इस बीच केवल दो बार वह भारत आए थे। इस दीर्घ कालावधि में अपने प्रवासी भाइयों को रगभेद के घृणित अन्याय के विरुद्ध खड़ा करने तथा अहिंसात्मक पद्धति से अपने अधिकारो की पूर्ति कराने के हेतु युद्ध लड़ने के लिए उन्हें तत्पर करने के महान् अनुष्ठान मे क्षण भर का भी विराम उन्होंने न लिया। उन्होंने सन् १८९४ ई० में इस अनुष्ठान में योग देने के लिए 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' के नाम से एक शक्तिशाली

जनप्रतिनिधि संस्था की प्रस्थापना में हाथ लगाया। उसी वर्ष जब मजदूरी करनेवाले भारतीयों पर नेटाल-सरकार द्वारा २५ पौण्ड (४२५ रुपए) का सालाना कर लगाने का एक बिल पेश किया गया, तो इस नई जनवेदी पर से विरोध की आवाज उठाकर, देखते ही देखते अपने देशवासियों का एक जोरदार संगठित मोर्चा उन्होंने अफ्रीका के उन अन्याय पर तुले हुए गोरों के सामने खड़ा कर दिया !

इसी समय अपने परिवार को लिवा ले आने के लिए कुछ दिनो की छुट्टी लेकर वह स्वदेश आए। उस अवसर पर फीरोजशाह मेहता, लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले आदि चोटी के नेताओं से वह मिले तथा बंबई, पूना, मदरास, कलकत्ता आदि का एक राजनीतिक दौरा भी उन्होने किया। इस प्रकार अफ्रीका के उन मुट्ठी भर गोरो द्वारा 'रंगीन' जातियों पर ढहाए जानेवाले अत्याचारों का एक सजीव खाका खींचकर, उन्होंने इस अन्याय के विरुद्ध इस देश के नेताओं की आँखें खोल दी। यह एक उल्लेखनीय बात है कि सार्वजनिक ऑगन में कांग्रेस तथा उसके तत्कालीन दिग्गजों के अपने उस प्रथम ससर्ग ही मे गान्धीजी ने गोखले जैसे दूरदर्शी नेता की आँखों में पैठकर उनकी तथा देश की निगाह में अपने लिए एक ऊँचा स्थान बना लिया था !

गोरों द्वारा हिंसा का प्रहार

कहना अनावश्यक है कि उनके द्वारा उठाए गए आन्दोलन से अफ्रीका के गोरे गान्धीजी से बेतरह जल-भुन गए। फलतः जब १८९६ ई० में स्त्री-बच्चो सहित वह पुनः अफ्रीका पहुँचे, तो आठ सौ अन्य हिन्दुस्तानी यात्रियो सहित उनके जहाज को अकारण ही डर्बन के बंदरगाह पर हफ्तों रोक रक्खा गया। अत में जब वह उससे उतरे, तो गोरों द्वारा उन पर ककड़-पत्थरों की वर्षा की गई एवं घूसों तथा लातों से उनका सत्कार किया गया ! बड़ी मुश्किल से स्थानीय पुलिस सुर्पारटेडेंट की पत्नी के बीच-बचाव करने पर गोरे उपद्रवियों द्वारा घेर लिए गए ठहरने के अपने मुकाम से, एक पुलिस कांस्टेबल के वेश में, सुरक्षित स्थान में ले जाए जाकर उनकी जान बचाई गई !

पर गाधीजी इन सब बातो से तिल भर भी अपने पथ से डिगाए न जा सके ! बल्कि अपने महान् नैतिक आदर्श को सामने रखकर उन्होने अपने आक्रमणकारियों के प्रति क्षमा का ही बर्त्ताव किया। यही नहीं, १८९७-९९ ई० के प्रसिद्ध बोअर-युद्ध में एक भारतीय स्वयसेवक-टोली संगठित कर, विपत्ति के समय रणभूमि में उन्हीं गोरों की सेवा-शुश्रूषा द्वारा बुराई का बदला भलाई द्वारा ही उन्होंने चुकाया ! साथ ही जनोत्थान के अपने महान् अनुष्ठान को तनिक भी ढीला न पड़ने देकर, अहिंसात्मक तथा शान्तिपूर्ण उपायों से अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन करना भी उन्होंने पूर्ववत् बराबर जारी रक्खा !

जीवन-प्रणाली में महान् परिवर्तन

इस बीच उन्होने अपनी जीवन-प्रणाली में दिन-प्रति-दिन सादगी तथा त्याग का अधिकाधिक समावेश करते हुए, अपने रहन-सहन में गम्भीर परिवर्तन करने की ओर हाथ बढ़ाया। उन्होंने स्वयं अपने ही हाथों अपने कपडे धोना, बाल कतरना और दैनिक जीवन के अन्य कार्यों को भी करना शुरू किया। यहाँ तक कि अपनी अन्तिम सतान के प्रसव के समय स्वय उन्होंने ही दाई तक का भी काम किया ! तब १९०१ के आखिरी दिनों में वह पुनः कुछ समय के लिए स्वदेश आए और कलकत्ते के कांग्रेस-अधिवेशन मे सम्मिलित हुए। उक्त अधिवेशन के लिए नियोजित स्वयसेवकों की टोलो में भरती होकर उन्होने विविध प्रकार से सेवाकार्य किया। इसी अधिवेशन मे पहले-पहल अखिल भारतीय कांग्रेस के प्लेटफार्म पर वह प्रकट हुए थे और अफ्रीका के भारतीयों की दुर्दशा-विषयक एक प्रस्ताव के समर्थन में कुछ मिनट तक पहली बार बोले भी थे !

इस समय तक गोखले के साथ उनका घनिष्ट परिचय हो चुका था। अतः उनके सग लगभग एक महीने तक वह कलकत्ते ही मे रहे। जब वहाँ से राजकोट जाने के लिए वह रवाना हुए, तो साथ में गोखले द्वारा भेट किया गया पीतल का एक साधारण टिफिन-बक्स, बारह आने कीमत का एक केनवस का झोला, एक कंबल और पहनने के कपडे—यही कुल सामान उनके साथ था। यह उल्लेखनीय यात्रा गाधीजी ने तीसरे दर्जे ही में की थी। उसे उन्होने काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर आदि विविध स्थानो में रुकते हुए अपने देश के साधारण तीर्थयात्रियों की तरह, कही धर्मशालाओं में तो कही पडों के घर पर उतरते हुए, केवल ३१) रु० कुल खर्च करके सपूर्ण की थी ! उसका बड़ा रोचक विवरण उनकी 'आत्मकथा' में है।

'इण्डियन ओपीनियन'

पर राजकोट से बंबई आकर, सन् १९०२ ई० के आरंभ में, वहाँ वकालत करने के इरादे से अभी उन्होने अपना डेरा-तबू खड़ा किया ही था कि अफ्रीका से पुनः वहाँ के मित्रों द्वारा मदद की पुकार आ पहुँची। यह बुलावा पाकर फिर से बोरा-बँधना समेट उन्हें स्वदेश से चल देना पड़ा ! इस बार अफ्रीका पहुँचते ही उन्होंने पत्रकला के क्षेत्र की ओर भी अपना कदम बढ़ाया। उन्होंने 'ट्रासवाल ब्रिटिश इडियन एसोसिएशन' नामक सस्था की प्रस्थापना की और तब एक साथ ही अग्रेजी, तमिल, गुजराती और हिन्दी में 'इडियन ओपीनियन' नामक एक पत्र अपने सपादन मे निकालना शुरू किया। साथ ही धार्मिक अनुशीलन के प्रति गभीर रूप से आकृष्ट होकर, अपने आपको अब स्वाध्याय और एकान्त मनन-चिन्तन में भी अधिकाधिक लगाना शुरू किया। इसी बीच गीता के कई अध्याय उन्होंने कठस्थ कर लिए थे। इसके अलावा विवेकानन्द के 'राजयोग' एव पतजलि के 'योगसूत्र' को भी गहराई के साथ मथ डाला था। इन्ही दिनो की बात है कि एक बार रेल मे डर्बन जाते हुए रास्ते में अग्रेजी के महान् लेखक रस्किन की 'अन्टू धिम लास्ट' नामक कृति पढ़ने का उन्हे अचानक मौका मिल गया। इस पुस्तक के विचारो का ऐसा गहरा प्रभाव उन पर पडा कि तत्काल ही अपने जीवन को तदनुसार बदलने का दृढ़ सकल्प उन्होने कर लिया। इसी पुस्तक को आगे चलकर स्वतः गुजराती मे भाषान्तर करके गाधीजी ने 'सर्वोदय' के नाम से प्रकाशित कराया था। यह पुस्तक क्या थी मानो सरल जीवन और उच्च विचार के आदर्श को प्रतिपादित करनेवाली एक ज्योति-सी थी !

'फिनिक्स-आश्रम' :: ब्रह्मचर्य-व्रत

उसी महान् आदर्श को सामने रखकर अब गांधीजी ने 'फिनिक्स' नामक स्थान में १०० एकड़ जमीन खरीद ली और स्वावलम्बन एवं सादगी के आधार पर वहाँ एक 'फार्म' अथवा आश्रम-सा उन्होंने स्थापित किया। वही रहते हुए 'इडियन ओपीनियन' को अब उन्होने निकालना शुरू किया। इस समय तक उनकी सत्य-निष्ठा एवं अहिंसात्मक जीवन-प्रणाली से आकृष्ट होकर वेस्ट, पोलक, कैलनबेक आदि कई गोरे भी उनके अनन्य भक्त बन गए थे। वे सब आत्म-विकास करने के हेतु उनके साथ ही आ बसे थे।

इन्हीं दिनों की बात है कि कठोर ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत लेकर खान-पान के विषय में भी पहले से अधिक संयम का पालन करने की ओर गांधीजी ने अपना कदम बढाया। यहाँ तक कि उन्होने भोजन में दूध, दाल तथा नमक तक का त्याग कर दिया ! उन्होने दिन में केवल दो बार मिताहार करने का नियम अपनाया ! उन्होने अपनी शारीरिक शिकायतों को दूर करने के लिए वैद्य-डॉक्टरो की शरण लेने के बजाय मिट्टी-पानी के प्राकृतिक प्रयोगो को आजमाना आरम्भ किया। साराश यह कि अपने जीवन को अधिकाधिक प्रकृति की ओर मोड़ने का प्रयत्न अब उन्होंने शुरू किया।

इस प्रकार तप की निर्धूम अग्नि में अपने आपको निरन्तर तपाता हुआ यह सत्यशोधक मनुष्य मात्र को अपने फदे में फँसाए रखनेवाली दुर्दम्य इद्रियों पर काबू पाकर सात्विक जीवन के उस उच्च शिखर की ओर तेजी के साथ बढ़ने लगा, जिस पर पहुँचकर अल्पकाल ही में वकालत का पेशा करनेवाले एक मामूली दुनियावी आदमी की स्थिति से ऊँचा उठकर वह अपने युग के ससार के सबसे महान् नैतिक व्यक्ति में परिणत होनेवाला था।

ट्रान्सवाल का काला कानून

तब आया दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा आरभ किए गए स्वातत्र्य-आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग। इस आन्दोलन का जन्मदाता ट्रासवाल-सरकार द्वारा प्रवासी भारतवासियो के लिए हुलिया तथा अँगूठों की निशानी देकर परवाना लेने का एक अपमानजनक काला कानून था, जिसके विरोध मे गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र मे पहले-पहल निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा अहिसात्मक सत्याग्रह के अद्भुत अस्त्र का सफल प्रयोग कर मानवीय इतिहास मे एक युगान्तर प्रस्तुत कर दिया। तभी से उनका यश दुनिया के कोने-कोने मे फैल गया !

यह बात १९०६-७ ई० की है, जबकि गांधीजी की उम्र केवल सैंतीस या अड़तीस साल की रही होगी। १९०६ ई० के अप्रैल मास में अफ्रीका की जुलू नामक एक आदिवासी वीर जाति ने कतिपय कारणों से अग्रेजों के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था। इस विद्रोह ने शीघ्र ही एक विधिवत् संग्राम का-सा रूप ग्रहण कर लिया था। अतः पिछले बोअर-युद्ध की भाँति इस लड़ाई के अवसर पर भी गांधीजी ने साथी भारतीयों की एक टुकड़ी लेकर घायलों की

शुश्रूषा के लिए अपने आपको अर्पित किया ! उन्होंने लगभग डेढ़ मास तक बड़ी लगन के साथ अपना वह सेवा-कार्य किया ।

किन्तु जैसे ही वह अपने उस सेवा-मिशन को पूरा करके फिनिक्स-आश्रम में वापस आए, वैसे ही उन्हें ट्रांसवाल-सरकार द्वारा प्रवासी भारतीयों के विरुद्ध प्रस्तावित उपर्युक्त काले कानून के मसविदे के प्रकाशित होने का समाचार मिला । अब भला, वह कैसे चुप बैठे रह सकते थे ? अतः फौरन् ही उन्होंने ट्रांसवाल के प्रवासी भारतीय बन्धुओं की एक बृहत् सभा बुलाकर, अपनी मातृभूमि अथवा यों कहिए कि समस्त एशिया का अपमान करनेवाले इस गुस्ताखी से भरे प्रस्ताव के विरोध में साहसपूर्वक खड़ा होने के लिए, जोरों से सबका आह्वान किया । इस सभा में सबने एक स्वर से उस काले कानून का मुकाबला करने की प्रतिज्ञा ली और किसी हालत में भी परवाना न लेने का अपना दृढ़ संकल्प प्रकट किया !

निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन

बस, फिर क्या पूछना था ! जैसा कि पहले कभी भी देखने में नहीं आया था, ऐसा एक जबर्दस्त जनान्दोलन शीघ्र ही वहाँ उठ खड़ा हुआ । पहले तो हर प्रकार के वैध प्रयत्न करके देखे गए । सरकार के पास डेपूटेशन भी भेजे गए और ब्रिटिश पार्लमिण्ट तक का द्वार खटखटाया गया । यहाँ तक कि स्वय गांधीजी ही अन्य एक प्रतिनिधि को साथ लेकर इंगलैंड गए । किन्तु यह सब-कुछ व्यर्थ साबित हुआ और सरकार अपने निश्चय से टस से मस भी न हुई । उसने १ अगस्त, सन् १९०७ ई०, को परवाना लेने की अंतिम तारीख घोषित कर दी और उसके लिए जगह-जगह 'एशियाटिक दफ्तर' के नाम से चौकियाँ भी स्थापित कर दीं ।

गांधीजी तो इस कार्रवाई का मुकाबला करने के लिए 'निष्क्रिय प्रतिरोध मण्डल' (पेसिव रेजिस्टेन्स एसोसिएशन) नामक एक जन संस्था की प्रस्थापना पहले ही कर चुके थे । अतः अब बाकायदा रस्साकसी शुरू हो गई । जगह-जगह विरोधसूचक सभाएँ की गईं तथा किसी भी दशा में परवाने न लेने की गम्भीर शपथें ली गईं । साथ ही परवाने की चौकियों पर धरना देने के लिए सैकड़ों की संख्या में स्वयसेवक भी भरती किए गए ! इस प्रकार जनता और शासकों के बीच एक अभूतपूर्व संग्राम छिड़ गया, जिसके अंतिम परिणाम की उत्सुकतापूर्वक सारा ससार बाट जोहने लगा ।

प्रथम कारावास :: पठानों का हमला

स्वभावतः ही यूनियन-सरकार अपने कार्य में रोड़ा अटकते देखकर खीझकर दमन-पथ पर उतर पड़ी । उसने गिरफ्तारियाँ शुरू कर दीं, जिससे कि दिसंबर, सन् १९०७ ई०, में अन्य कार्यकर्त्ताओं सहित गांधीजी भी दो मास की सादी कैद की सजा पाकर पहली बार जेल में ठूँस दिए गए ! किन्तु जब आन्दोलन किसी भी तरह दबता नजर न आया और गांधीजी के जेल जाने के एक सप्ताह के भीतर ही एक सौ से अधिक अन्य और सत्याग्रही जेल में आ पहुँचे, तब तो सरकार घबड़ा उठी और उसने सुलह की चाल चली । फलतः अब संधि की बातचीत शुरू की गई और गांधीजी के साथ एक समझौता तय होने पर सब लोग छोड़ दिए गए । इस पर कुछ लोगों में यह गलतफहमी फैल गई कि गांधीजी सरकार से मिल गए । फलतः कुछ उद्दण्ड पठानों ने तो उन पर लाठियों से हमला तक कर दिया, जिससे कि वह मरते-मरते बचे !

परन्तु अंत में सरकारी चाल का रहस्य खुल गया, क्योंकि 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और होते हैं' इस कहावत के अनुसार मौका पाते ही उसने वह समझौता भग कर दिया । तब तो पुनः आन्दोलन जारी रखने के सिवा और कोई चारा ही न रह गया । अतः वही दौरदौरा पुनः शुरू हुआ । इस बार जब गांधीजी फिर गिरफ्तार हुए, तो सादी के बजाय कड़ी कैद की सजा उन्हें दी गई तथा जेल में खौफनाक मुलजिमों के लिए नियुक्त एकान्त कालकोठरी में उन्हें रक्खा गया ! छूटने पर ब्रिटिश न्याय के प्रति अपने अनन्य विश्वास के कारण वह इस मामले में मदद की आशा से एक बार फिर इंगलैण्ड पहुँचे । किन्तु वहाँ से भला उन्हें क्या मिलना था ! अतः केवल सत्याग्रह का पल्ला पकड़े रहने ही में उन्हें अब एकमात्र उपाय दिखाई दिया । उधर भारत में भी इस आन्दोलन के प्रति दिन-प्रति-दिन दिलचस्पी बढ़ने लगी, यहाँ तक कि प्रसिद्ध धनकुबेर श्री रतन ताता से इस लड़ाई की मदद के लिए आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई ।

'टाल्स्टाय-फार्म'

इसी समय की बात है कि गांधीजी ने तय किया कि सभी सत्याग्रही और उनके परिवार के लोग एक साथ एक ही जगह पर रहें और परस्पर मदद करते हुए कठोर आत्मसंयम द्वारा इस अहिंसात्मक संग्राम के सच्चे

सैनिक बनने की शिक्षा सब लोग लें। इसी उद्देश्य से जोहान्सबर्ग से २१ मील दूर, अपने उदार जर्मन मित्र कैलनबेक से ११०० एकड़ भूमि के मुफ्त उपयोग का लाभ पाकर, सन् १९१० ई० में उन्होंने 'टाल्स्टाय-फार्म' के नाम से एक बृहत् आश्रम की प्रस्थापना की। यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों अलग-अलग कुटियों में रहकर, खाना पकाने से लेकर भगी-मेहतर तक का काम करते हुए, बिना किसी भेदभाव के भाई-बहनों की तरह रहने लगे। इस प्रकार अपनी महान् अहिसात्मक लड़ाई के लिए मानो एक आध्यात्मिक कवायद कराते हुए गांधीजी ने उसके भावी कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना शुरू किया।

अहिंसा और सत्य की प्रयोगशाला

इस आश्रम के सभी सदस्यो को अनिवार्यत: कोई न कोई दस्तकारी का काम करना पड़ता था। तमाखू, मांस-मदिरा आदि का वहाँ सबके लिए परम निषेध था। स्वयं गांधीजी ने भी जूता बनाने की शिक्षा यहाँ ली थी। वही आश्रम के बच्चों को पढ़ाने का भी काम करते थे। सभी आश्रमवासियों को सार्वदेशिक धर्म-शिक्षा भी दी जाती। इसके सिलसिले में रामायण या कुरान से पाठ पढ़े जाते, भजन गाए जाते और शाम को नियमित रूप से प्रार्थना की जाती थी। बीमार पड़ने पर केवल प्राकृतिक उपचारों ही का सहारा लिया जाता था। परन्तु उन दिनो वस्तुत: वहाँ कोई बीमार पड़ा ही नही! और तो और, स्वय गांधीजी ही को वहाँ आकर शारीरिक श्रम करने का इतना अभ्यास अब तक हो गया था कि कहते हैं, इन्ही दिनों एक दिन तो पूरे पचपन मील तक वह पैदल चलते चले गए थे, फिर भी थककर चूर होते वह नही पाए गए!

इस प्रकार 'टाल्स्टाय-फार्म' में वह महान् प्रयोग और भी अधिक प्रखर रूप में अहिंसा और सत्य की अपनी गुह्य सिद्धियों का चमत्कार दिखलाता हुआ साकार बना, जिसका कि आरंभ गांधीजी ने पाँच वर्ष पूर्व 'फिनिक्स-आश्रम' के रूप में पहले-पहल किया था! वास्तव में 'फिनिक्स-आश्रम' और 'टाल्स्टाय-फार्म' ही वे आरभिक प्रयोगशालाएँ थी, जिनमें भविष्य में 'गांधीवाद' के नाम से अभिहित किए जानेवाले मानव-जीवन-संबंधी विशिष्ट दृष्टिकोण तथा उसके अनुरूप गढ़ी जानेवाली अनासक्त कर्ममूलक सरल जीवन-प्रणाली को कसौटी पर कसकर जाँचा-परखा एव पहले-पहल निर्धारित किया गया था। उन्हीं का परिष्कृत रूप भविष्य में साबरमती तथा सेवाग्राम के उन प्रसिद्ध आश्रमों में विकसित हुआ था, जो कि आगे चलकर भारत में स्थापित किए गए थे। इन आश्रमों ने हमारे स्वाधीनता-संग्राम के प्रधान शिक्षण-शिविरों का काम किया था। स्थान की कमी के कारण उनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने में हम यहाँ असमर्थ हैं। किन्तु पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे गाधीजी की 'आत्मकथा' में दिए गए उनके ब्यौरे को अवश्य ही पढ़ लें। वस्तुत: गांधीजी की जीवन-धारा और उनके चरित्र-विकास के क्रम के साथ इन आश्रमों का इतना महत्त्व का संबंध है कि उनकी जानकारी पाए बिना उनके व्यक्तित्व की विकास-रेखा को समझ पाना कठिन है!

भारतीय मातृत्व का अपमान

जब दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह-संग्राम अपनी ऊपर उल्लिखित मजिल पर पहुँच चुका था, तभी अपने प्रवासी देशबधुओ की दशा की जाँच के लिए महामान्य गोखले का वहाँ आगमन हुआ। उन्होने स्वत: अपनी आँखों से सारा हाल देख-परखकर यूनियन-सरकार से इस सम्बन्ध में चर्चा उठाई। किंतु चतुर गोरे अधिकारी तो इगलैण्ड के अपने नातेदारों से इशारा पाकर पहले ही अपनी चाल सोचकर बैठे थे! अत: उन्होने भोलेभाले गोखले को बाहरी आव-भगत और शिकायते दूर करने के जबानी आश्वासन द्वारा सहज ही बहला दिया। उन्होने चिकनी-चुपड़ी बातों से उनके मन में अपनी सदिच्छाओं के प्रति विश्वास पैदा करके ज्यों-का-त्यों वापस स्वदेश विदा कर दिया!

परन्तु स्वयं गांधीजी इन गोरों की कूटनीति का काफी कटु अनुभव कर चुके थे। अत: इस फुसलावे से वह तनिक भी प्रभावित न हुए। शीघ्र ही सारी हालत की सच्चाई भी प्रकट हो गई! क्योंकि जैसे ही गोखले ने उधर वापस स्वदेश का रास्ता लिया, त्योंही अपनी नीति में कोई फेरफार करना तो दूर रहा, उल्टे जले पर मानो नमक छिड़कते हुए इन्हीं दिनों गोरों ने एक अदालत के फैसले को आधार बनाकर ईसाई धर्म-विधि से सम्पन्न न होनेवाले तमाम विवाहों को नाजायज करार दे दिया! इस प्रकार ऐसा एक क्रूरतापूर्ण नया प्रहार उन्होने सभी प्रवासी जातिवालों पर किया, जिससे कि बढ़कर कोई अपमानजनक चोट

शायद ही हो सकती थी ! इस नई कूट चाल के अनुसार तो जितने भी विवाहित भारतवासी अथवा अन्य प्रवासीजन दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर अपना कदम रख चुके थे, उनकी स्त्रियों की वैधानिक दृष्टि से कोई भी स्थिति वहाँ नही रह गई थी ! वे अपने-अपने धर्मों के अनुसार लग्न-बधन द्वारा विधिवत् धर्मपत्नी के रूप में प्रतिष्ठित होकर भी इन चालबाजों की कूटनीति के एक ही प्रहार द्वारा मानो रखेलियों की-सी स्थिति में उतार दी गई थी !

भला इससे बढकर भारतीय मातृत्व का दूसरा अपमान और क्या हो सकता था ? अतः न केवल अपनी आत्मरक्षा के हितार्थ ही, प्रत्युत आत्मसम्मान के खातिर भी इस दुष्टतापूर्ण आघात का सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिरोध करके सत्याग्रह की रणभेरी बजाने के सिवा दूसरा चारा प्रवासी जनों के लिए अब न रह गया ! फलतः अब क्या तो पुरुष और क्या स्त्रियाँ, क्या मजदूरी करनेवाले श्रमजीवी और क्या वाणिज्य-व्यापार में व्यस्त धनी वर्ग के लोग, सभी एक ही झंडे के नीचे आ खड़े हुए। इस प्रकार पहले से भी अधिक जोरदार एक अहिंसात्मक युद्ध छिड़ गया, जिसके पहले ही मोर्चे में अन्य कई सह-योगिनी सत्याग्रही महिलाओं के साथ गान्धीजी की धर्मपत्नी कस्तूरबाई भी गिरफ्तार कर ली गईं !

सत्याग्रह और कारावास

इसके शीघ्र ही बाद गांधीजी ने सरकार को अपना वह प्रसिद्ध 'अल्टीमेटम' दिया, जिसके अनुसार कानून भग करके बिना परवाने के एक पूरी टोली के साथ ट्रासवाल की सीमा पार करने का अपना दृढ़ सकल्प उन्होने प्रकट किया था। इस नए ढग की कूच की योजना यह थी कि सब लोग तब तक रुकें नही, जब तक कि वे सब गिरफ्तार न हो जायँ। जब पहली टोली गिरफ्तार हो जाय, तो दूसरी टोली तुरन्त ही उसका स्थान ले ले। तदनुसार नवम्बर ६, सन् १९१३ ई०, के दिन सत्याग्रह के इस नए मोर्चे का श्रीगणेश कर दिया गया। इस विशाल टोली के साथ, जिसमें कि २०३७ पुरुष, १२७ महिलाएँ और ५७ बच्चे थे, अहिसात्मक सग्राम का यह महासेना-पति बिना परवाने के क्रमशः ट्रांसवाल की सरहद की ओर बढ़ा। जैसी कि उम्मीद थी, यह सारी की सारी जमात राह ही में गिरफ्तार कर ली गई। मुकदमा शुरू होने पर यद्यपि गांधीजी तुरन्त ही जमानत पर छोड़ दिए गए, परन्तु छूटते ही जब वह पुनः सत्या-ग्रहियों की कूच करती हुई टोली में आ मिले, तब तो यूनियन-सरकार का पारा चढ़ गया। उसने उन्हें फिर से पकड़कर नौ महीने की कड़ी कैद की सजा सुना दी और अपने जेल का मेहमान बना लिया ! साथ ही उनके योरपियन साथी पोलक और कैलनबेक को भी पकड़कर उसने उन्हें जेल में ठूंस दिया। इसी बीच नेटाल के लगभग बीस हजार मजदूरों ने एक सहानु-भूतिसूचक हड़ताल कर दी। इससे सरकारी दमन-चक्र और भी उत्तेजित हो उठा ! इस हगामे में कही-कही तो खूनखराबी तक हो गई ! उधर भारत में भी गोखले ने यूनियन-सरकार के वचन-भंग की तीव्र निन्दा की तथा गांधीजी द्वारा उठाए गए सत्याग्रह-आदोलन के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए सहायतार्थ बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया, जिसे उन्होने एण्डरूज एव पियर्सन के साथ दक्षिण अफ्रीका भेजा। इस मामले में हस्तक्षेप के लिए उन्होंने भारत-सरकार पर भी भरपूर जोर डाला।

गोरों ने घुटने टेके

फलतः क्या तो सत्याग्रह के अमोघ प्रभाव और गांधीजी के महान् सकल्प तथा क्या गोखले की आवाज एवं भारत-सरकार द्वारा किए गए बीच-बचाव, आदि सभी बातों के दबाव से अफ्रीका के गोरे अधिकारियों को अत में अपने घुटने टेक देने को विवश हो जाना पड़ा ! नतीजा हुआ था कि काफी पैंतरेबाजी दिखाने के बाद आखिर गांधीजी की तमाम शर्त्तें उन्होंने कबूल कर ली। इस नए करार के अनुसार परवाने का घृणित रिवाज तथा तीन पौण्ड का काला कर रद्द कर दिया गया। सभी विवाह जायज करार दे दिए गए और आन्दोलन में भाग लेनेवाले तमाम सत्याग्रही मुक्त कर दिए गए। इस प्रकार लगभग बीस वर्ष के अनवरत संग्राम के बाद दक्षिण अफ्रीका में उठाई गई गांधीजी की सत्य और न्याय की वह पुकार फलीभूत हुई। इसका एक सुफल यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच रग-भेद के कारण प्रयुक्त की जानेवाली घृणित नीति का पहली बार पर्दाफाश हो गया ! उधर इस संग्राम के दौरान में अहिंसात्मक सत्याग्रह के रूप में जिस अद्भुत ब्रह्मास्त्र का पहली बार प्रयोग किया गया, उसकी अप्रत्याशित सफलता ने तो एकबारगी ही सारे ससार की आँखें विस्मय, उल्लास एवं आशा के साथ उसके आविष्कर्त्ता की ओर केन्द्रित कर दीं !

अफ्रीका से विदा :: स्वदेश के प्राङ्गण में

इसके बाद की उनकी जीवन-कथा तो हमारे पिछले तीस साल के राष्ट्रीय इतिहास के साथ घुल-मिलकर इतनी अधिक एकाकार हो चुकी है कि उसे पृथक् रूप में देखना-परखना लगभग असभव है। साथ ही इतनी लबी भी है वह कि उसका निरा सारांश देने के लिए भी कई एक पृष्ठ चाहिएँ! सन् १९१४ ई० के अगस्त मास में दक्षिण अफ्रीका से अन्तिम विदा लेकर गांधीजी इगलैण्ड में बीमार पड़े हुए अपने परम स्नेही श्री गोपाल कृष्ण गोखले से मिलने के इरादे से अपने जर्मन मित्र कैलनबेक तथा धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरवाई के साथ लदन पहुँचे। इस समय तक योरप में महासमर की रणदुंदुभि बज जाने के कारण ससार के लिए एक नया ही वातावरण प्रस्तुत हो चुका था।

यह कोई कम उल्लेखनीय बात नही है कि विलायत के अपने इस अल्पकालिक प्रवासकाल में भी गांधीजी ने मानवता की सेवा के अपने महाव्रत को शिथिल न होने दिया। उन्होंने युद्ध में आहत व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए इन्ही दिनों विलायत में एक भारतीय स्वयसेवक-टोली का प्रशंसनीय संगठन किया। यही श्रीमती सरोजनी नायडू ने अपने इस महान् भावी नेता से प्रथम परिचय प्राप्त किया। परन्तु दिसम्बर मे पसली के भयकर दर्द से एकाएक पीड़ित हो जाने के फलस्वरूप, स्वास्थ्य की विवशता के कारण अपने उस सेवाकार्य को अपूर्ण ही छोड़कर उन्हें शीघ्र ही स्वदेश के लिए चल देना पड़ा। इस प्रकार ९ जनवरी, सन् १९१५ ई०, के दिन भारत का यह भावी भाग्य-विधाता काठियावाड़ी तर्ज की पगड़ी, अँगरखा और धोती पहने हुए चौदह वर्ष बाद पुनः बम्बई के बदरगाह पर इस देश की धरती पर उतरा! स्वभावतः ही देशवासियों द्वारा एक महान् राष्ट्रवीर के रूप में उसका जोरो के साथ स्वागत-सत्कार किया गया! यहाँ इस बात का उल्लेख कम मनोरजक न होगा कि बम्बई में इस अवसर पर गांधीजी के सम्मान में आयोजित एक समारोह में मियाँ मुहम्मदअली जिन्ना ने भी प्रमुख रूप से भाग लिया था! गोखले के इच्छानुसार गांधीजी बम्बई से तुरन्त ही पूना पहुँचे। वहाँ उनकी प्रख्यात 'भारत-सेवक-समिति' के सभ्यों से भेट करके उन्होंने किसी अनुकूल स्थान में फिनिक्स-आश्रम के अपने साथी-संगियों को (जोकि इस समय तक अफ्रीका से भारत आ पहुँचे थे) एक आश्रम के रूप में बसाने के विषय में चर्चा की। उधर गोखले ही के आदेशानुसार कम से कम एक वर्ष तक किसी सक्रिय राजनीतिक अनुष्ठान में न उतरने तथा इस अरसे में पर्यटन आदि द्वारा देश की परिस्थिति का अध्ययन करने का भी निश्चय उन्होने किया।

पूना से राजकोट जाते समय वीरमगाम की जकात के प्रश्न के सम्बन्ध मे लोगों द्वारा आग्रह करने पर गांधीजी ने क्रमशः बम्बई के गवर्नर विलिग्डन तथा कुछ समय बाद तत्कालीन वायसराय चेम्सफर्ड से भी मुलाकात की, जिसके फलस्वरूप वह जकात कालान्तर में उठा दी गई!

'महात्मा' कहलाए :: गोखले की मृत्यु

इन्हीं दिनों की बात है कि कविवर रवीन्द्रनाथ ने शान्ति-निकेतन के आश्रमवासियों के नाम अपने एक पत्र में गांधीजी के लिए पहले-पहल 'महात्मा' शब्द का प्रयोग किया, जो कि तब से सार्वजनिक रूप से उनके नाम का मानो पर्याय-सा बन गया! यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि गांधीजी के स्वदेश की भूमि पर कदम रखने के केवल सवा महीने बाद ही उनके महान् श्रद्धाभाजन महामान्य गोखले का पूना में अवसान हो गया। इसका उनके हृदय पर गहरा आघात पड़ा! इस समय वह थे रवीन्द्रनाथ के शान्ति-निकेतन आश्रम में, जहाँ कि उनके फिनिक्स-आश्रम के अन्तेवासियों को कुछ समय के लिए टिकाया गया था। अतः फौरन् ही दौड़कर वहाँ से वह पूना आए। तदनतर उस वर्ष के कुम्भ-मेले मे सेवा-कार्य करने के उद्देश्य से वह हरद्वार भी पहुँचे! इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुन्शीराम) के नवसस्थापित गुरुकुल-काँगडी के अद्भुत शिक्षा-केन्द्र का भी परिचय उन्होने पाया। वहाँ उन्हे एक मानपत्र भेट किया गया।

इसके बाद स्थिति के अध्ययन के लिए देश के अन्य भागों का भी दौरा उन्होंने किया। कुछ ही समय में तो उनका नाम इतना मशहूर हो चला कि अब जहाँ-जहाँ भी वह जाते, उनके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ लग जाती एव सब कोई यही सोच-सोचकर अचरज करते कि आखिर इस दुबले-पतले वनिए ने सुदूर अफ्रीका के उस अपरिचित विदेश में एक सशक्त राजतन्त्र के साथ बिना हथियार के लड़ाई लड़कर उसे वह करारी मात दी तो कैसे?

छुआछूत के विरोध में आवाज

और तब धीमे-धीमे किन्तु चुभते हुए स्वरों में इस देश के वायुमण्डल में क्रमशः गूँजने लगी इस महापुरुष की वह अद्भुत अनोखी वाणी, जिसके द्वारा निकट भविष्य ही में इतनी भारी उथलपुथल इस धरती पर वह मचानेवाला था ! वह 'सत्याग्रह' के अस्त्र की अगाध शक्ति और महिमा का उल्लेख तो इस देश की भूमि पर फिर से पैर रखते ही काठियावाड़ के बगसरा नामक स्थान में स्पष्ट रूप से कर चुका था। इसके अलावा अब पहले-पहल दक्षिण भारत के मायावरम् नामक स्थान में हिन्दू-समाज के उस महान् कलंक छुआछूत की गर्हित प्रथा और उसके कारण त्रस्त तथाकथित 'अछूत' वर्ग के लोगों के सम्बन्ध में भी जोरों से उसने अपनी आवाज बुलंद की। उसने कहा—'सच्चे हिन्दू-धर्म का यह कदापि अग नही हो सकता कि उसमें लोगों का ऐसा भी एक वर्ग हो, जिसे कि 'अछूत' या 'अन्त्यज' कहा जाय। यदि कोई यह साबित करके मुझे दिखा दे कि यह हिन्दू-धर्म का एक अनिवार्य अंग है, तो मैं खुले आम अपने को ऐसे हिन्दू-धर्म के विरुद्ध बागी घोषित करते हिचकूँगा नही।'

इन स्फुट वाक्यों से विचारवान् लोगों को स्पष्ट ही अब इस बात का बहुत-कुछ आभास मिलने लगा था कि हवा किस दिशा में बहनेवाली है ! सब कोई उत्सुक आँखों से देश के सार्वजनिक क्षितिज पर उदय होनेवाले इस नए नक्षत्र की ओर टकटकी बाँधकर देखने लगे थे। सब कोई इसी आशा मे थे कि पता नही कौन-सा चमत्कार उसके हाथों हो जाय ! यद्यपि अभी तक न तो उसने अपना कोई सुनिर्दिष्ट कार्यक्रम ही घोषित किया था, न राजनीतिक मुक्ति के लिए देश के आँगन में सत्याग्रह के उस अस्त्र को लेकर अग्रसर होने की ही मंशा स्पष्टतः अभी तक उसने प्रकट की थी, जिसे कि दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक आजमाकर वह ससार को चकित-थकित कर चुका था।

वस्तुतः अभी तो राष्ट्रीय आँगन में लोकमान्य जैसे जननायक विद्यमान थे। अतः किसी और के नेतृत्व का सवाल ही नहीं उठ सकता था ! फिर भी चूँकि एक बिल्कुल ही नए ढंग की लड़ाई द्वारा अभी-अभी एक अपूर्व विजय की यशोगाथा के प्रखर स्वर लोगों के कानों में गूँज रहे थे, अतः स्वभावतः ही उसके महान् जनक एवं विजेता के रूप में इस महापुरुष के व्यक्तित्व के प्रति देश का ध्यान दिन-प्रति-दिन खिंचता चला जा रहा था। सभी के मन के भीतर ही भीतर धीमे-धीमे मानो कोई यह बात कहने लगा था कि भारत की मुक्ति की कुञ्जी यदि कही है तो इसी दुबले-पतले आदमी के हाथों में ! उधर क्रान्तदर्शी रवीन्द्रनाथ ने तो अपने पैगम्बर के-से शब्दों में एक ही वाक्य में इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट भी कर दिया था। जब शान्ति-निकेतन में गांधीजी द्वारा यह सुझाव रखा गया कि आश्रमवासियों को रसोइयों, नौकरों, यहाँ तक कि भगी-मेहतरों को भी छुट्टी देकर स्वयं ही सब काम अपने हाथों करना चाहिए, तब कवि ने अपने छात्रो को संबोधित करते हुए कहा था कि 'इसी प्रयोग में वास्तव में स्वराज्य की कुञ्जी छिपी है !'

सत्याग्रह-आश्रम :: चंपारन और खेड़ा

अंत में आ पहुँचा इस देश के मुक्ति-संग्राम के उनके महान् अनुष्ठान के श्रीगणेश का वह पुण्य-क्षण भी, जब कि २५ मई, सन् १९१५ ई०, के दिन सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, स्वदेशी, अस्पृश्यता-निवारण, मातृभाषा द्वारा शिक्षण एवं खद्दर के प्रयोग का आजन्म महाव्रत लेनेवाले कतिपय प्राथमिक अतेवासियों को साथ लेकर अहमदाबाद के पास उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध 'सत्याग्रह-आश्रम' प्रस्थापित किया। इस प्रारम्भिक शिक्षण-शिविर के उद्घाटन के दो वर्ष बाद उन्होने पहले तो बिहार में निलहे गोरों की 'तीन कठिया' की घृणित प्रथा के अत्याचार से पीड़ित नील की खेती करनेवाले चंपारन के किसानों की मुक्ति के प्रश्न पर, और तदुपरान्त गुजरात के खेड़ा जिले के कृषकों के कष्ट-निवारणार्थ, सत्याग्रह के अपने अमोघ अस्त्र का पहली बार इस देश की भूमि पर सफल प्रयोग किया ! इस प्रकार कोरे वाक्-युद्ध ही तक सीमित हमारे राजनीतिक जीवन में उन्होने एक युगान्तर प्रस्तुत कर दिया।

यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि इसके पूर्व ही ४ फरवरी, सन् १९१६ ई०, के दिन काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर देश के बड़े-बड़े राजा-नवाबों, रईसों और नेताओं की उपस्थिति में वह इन इतिहास-प्रसिद्ध वाक्यों की घोषणा कर चुके थे—'यदि मैं यह अनुभव करूँगा कि भारत की मुक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अंग्रेज इस देश से अवकाश ग्रहण कर लें और खदेड़कर वे

यहाँ से एकदम बाहर निकाल दिए जाएँ, तो यह घोषित करते हुए जरा भी मैं हिचकूँगा नही, फिर चाहे अपने इस विश्वास के समर्थन के लिए मुझे मौत का भी सामना क्यों न करना पड़े !'

भावी आयोजन की तैयारी :: पूर्वाभास

इस बीच सन् १९१५ ई० के बम्बई-अधिवेशन एवं उसके बाद के ऐतिहासिक लखनऊ-अधिवेशन में सम्मिलित होकर, उस महान् राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के साथ भी अपना गहरा गठबधन वह कर चुके थे, जिसके कि मंच पर से आगे चलकर अपना गौरवपूर्ण अनुष्ठान उन्हें संपन्न बनाना था। साथ ही 'गिरमिट-प्रथा' के नाम से बदनाम मजदूरों को शर्त्तबन्दी के अधीन बाहर ले जाने की प्रणाली के विरुद्ध उठाए गए आन्दोलन एव अहमदाबाद के मिल-मजदूरों द्वारा अपनी शिकायतों के निवारणार्थ की गई हड़ताल के समय एक विशिष्ट चमत्कार दिखाकर, अपनी महान् क्षमता के प्रति इस देश के जनवर्ग के मन में सुदृढ़ विश्वास का भाव भी वह जमा चुके थे। यही नही, चंपारन-सत्याग्रह के सिलसिले में राजेन्द्रप्रसाद को पाकर अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की हड़ताल के समय वल्लभभाई को शिष्य बनाकर और लखनऊ-कांग्रेस के मौके पर जवाहरलाल जैसे अपने महान् भावी सहकारियों से पहले-पहल परिचय प्राप्त करके आगे आनेवाली लड़ाई के लिए अपने सेनानियों को भी इसी समय से उन्होंने मानो निर्धारित कर लिया था। इसी प्रकार इधर चंपारन में जिला-मैजिस्ट्रेट का हुक्म मानने से इंकार करते समय, निर्भयतापूर्वक पुलिस द्वारा गिरफ्तारी एवं हिरासत का आह्वान करके, अपनी अहिंसात्मक युद्ध-प्रणाली का भी एक सूत्रवत् पूर्वाभास इन्हीं दिनों देश को उन्होने दे दिया था ! उधर अहमदावाद की मजदूर-हडताल के समय एक छोटा-सा उपवास करके, सत्याग्रही के उस अमोघ अस्त्र की क्षमता की भी एक झाँकी उन्होंने दिखा दी थी, जिसका कि आगे चलकर सकट की स्थिति में कितनी ही बार उन्हें प्रयोग करना था।

इन्हीं दिनों की बात है कि जब प्रथम गुजरात-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का अध्यक्षपद उन्होंने ग्रहण किया, तो ये वाक्य उनके श्रीमुख से उद्घोषित होते सुनाई दिए—'मैं यह भूलता नही कि भारत योरप नहीं है, न वह जापान या चीन है।........मैं तो निरंतर यह याद रखता हूँ कि हमारे देश का ध्येय और कार्य इन सबसे जुदा है।' तदनंतर कुछ ही दिनों बाद जब कलकत्ता-काग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर समाज-सेवा-संघ (सोशल-सर्विस-लीग) के सभापति के आसन पर वह बिठाए गए, तब सामाजिक उत्थान एव देश के उद्धार के लिए सेवा-धर्म-मूलक उस रचनात्मक कार्यक्रम का भी उन्होंने बहुत-कुछ पूर्वाभास दे दिया था, जिसकी कि नींव पर भविष्य में उनका सारा सग्राम रचा जानेवाला था।

किन्तु यह तो था वस्तुतः उनके द्वारा नियोजित होने-वाले यज्ञ का केवल आह्वान-मात्र—उसका प्रारंभिक मन्त्रोच्चार ही ! उसके हवन-कुड की समिधा में अग्नि संचार करने में तो अभी वस्तुतः कई दिनों की देर थी। हाँ, इतना अवश्य था कि इन आरभिक प्रयोगों द्वारा देश के आँगन मे आगे चलकर उनके हाथों नियोजित होनेवाले महान् अनुष्ठान के लिए उपयुक्त वातावरण का तेजी के साथ निर्माण होता जा रहा था। तब तो कुछ ही दिनों में देखते ही देखते आखिरकार वह संग्राम की घडी भी आ पहुँची, जबकि मातृभूमि की सर्वाङ्गीण मुक्ति के हेतु लँगोटी पहनकर मैदान में उतर पडनेवाले इस डेढ़ पसलियों के गुजराती को अपने मुक्ति-यज्ञ का प्रधान होता स्वीकार करके, देश ने एक स्वर से स्वराज्य-प्राप्ति का अपना भगी-रथ सकल्प प्रकट किया और पूरी तैयारी के साथ स्वातंत्र्य-यज्ञ के हवन-कुण्ड में आग छोड़ दी।

स्वातंत्र्य-संग्राम का शंखनाद

यह एक उल्लेखनीय बात है कि अपने इस संग्राम को छोड़ने से पहले गांधीजी, भलाई द्वारा बुराई की जड़ काटने की अपनी ध्रुवनीति का अनुसरण करते हुए, लोकमान्य तिलक जैसे नेता की असम्मति होते हुए भी, महायुद्ध में साथ देने के प्रश्न पर सरकार के साथ-संपूर्ण सहयोग करने की आवाज भी उठा चुके थे। उन्होने अपने स्वास्थ्य तक को खतरे में डालकर रँगरूटों को भरती कराने के काम में मदद की थी। किन्तु युद्ध की सफल समाप्ति पर जब मुक्ति की आशा लगाए बैठे भारत को उस सहयोग के पुर-स्कार के रूप में अंग्रेजों से केवल 'रौलट ऐक्ट' जैसे काले कानून की थपेड़ ही मिली, तव तो गाधीजी जैसे उदारमना व्यक्ति का भी हृदय उनकी ईमानदारी के प्रति विश्वास खो बैठा। उन्होंने देश की पुकार पर अब स्वयं ही सामने आकर स्वाधीनता की क्रियात्मक लड़ाई लड़ने का बीड़ा उठा लिया।

इस सग्राम का आरंभ करने से पूर्व वल्लभभाई और सरोजिनी नायडू जैसे अपने कतिपय अनन्य सहयोगियों की मन्त्रणा से गान्धीजी ने सत्याग्रह का एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया। उस पर हस्ताक्षर करके सबने सत्य और अहिसा की एक शपथ ली। तदनन्तर ६ अप्रैल, १९१९, के दिन एक देशव्यापी हड़ताल की तिथि निश्चित करके उसी के साथ युद्ध का आरंभ करने की घोषणा कर दी गई। इस बीच जगह-जगह घूम-फिरकर गाधीजी इस नई लड़ाई को लड़ने की पद्धति तथा सत्याग्रह का यथार्थ मर्म देश को समझाते रहे! वह किसी भी दशा में अहिसा की भित्ति पर से न हिलने का ही उपदेश जनता को लगातार देते रहे। तब तो पूछना ही क्या था! मानो एक छिपे हुए बारूद के ढेर मे अचानक ही चिनगारी पड़ गई और देखते-देखते जनशक्ति के प्रचण्ड विस्फोट तथा उसे दबाने के लिए सरकार द्वारा दमनचक्र के नग्न प्रयोग की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का ऐसा एक अनोखा दृश्य इस देश की धरती पर प्रस्तुत हो गया, जैसा कि सन् १८५७ ई० के महान् विप्लव के समय भी नही रच पाया था। कारण अपनी वह पिछली लड़ाई तो लोगों ने लडी थी हाथों में तलवार-बदूक लेकर, पर इस नए युद्ध में तो जनता का एकमात्र शस्त्र था 'अहिसात्मक सत्याग्रह' ही!

जलियाँवाला बाग :: दमनचक्र का नंगा नाच

इस तूफान की चरम सीमा पहुँची पंजाब में, जहाँ १३ अप्रैल, सन् १९१९, के दिन जलियाँवाला बाग का वह वीभत्स काण्ड घटित हुआ, जिसमें कि निहत्थे और शान्त स्त्री-पुरुषों और बच्चो की एक अहिसक भीड़ को मशीनगनों की गोलियों से भूनकर अग्रेज सत्ता ने सदा के लिए अपना मुँह कालिख से पोत लिया। इस घटना ने एकबारगी ही सारे देश को वर्षों की अपनी तद्रा से जगाकर बलपूर्वक लड़ाई के मैदान में लाकर खड़ा कर दिया! इसी दारुण परिस्थिति में, दिल्ली तथा पंजाब की ओर जाते हुए गाधीजी जब आगे बढ़ने से रोक दिए गए और रास्ते ही में गिरफ्तार करके वह वापस बबई लाकर छोड़ दिए गए, तब तो मानो आग में घी पड़ गया। इस घटना के प्रतिक्रिया-स्वरूप जगह-जगह जनता की ओर से भारी दंगे और उपद्रव तक हो गए। यह बात भला अहिसा के पुरोहित गांधीजी कैसे सहन कर सकते थे! अत. उन्होने एकाएक सत्याग्रह का वह युद्ध स्थगित कर दिया। उन्होंने नड़ियाद की एक सभा में अपनी हृदय-व्यथा प्रकट करते हुए कहा कि मैंने यह हिमालय जैसी एक बड़ी भारी भूल कर डाली थी कि जनता की अहिसक शक्ति का सही-सही माप लिए बिना ही सत्याग्रह छेड़ दिया था!

इस बीच फौजी शासन के अधीन पंजाब में दमन का दौर पशुता की भी सीमा को पार कर चुका था। लोग पेट के बल सड़कों पर रेंगाए जा रहे थे। हवाई जहाजो से उन पर कही-कही बम तक बरसाए जा रहे थे और कोड़ो की मार के साथ लबी-लबी सजाएँ उन्हें ठोकी जा रही थी! इस सबध में जब प० मोतीलाल, मालवीयजी एव चित्तरजन दास आदि नेताओं द्वारा सगठित कांग्रेसी जाँच-समिति की रिपोर्ट निकली और इन ज्यादतियो का यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ, तब तो देश का हृदय एक भयकर रोष और विद्रोह की ज्वाला से उत्तप्त हो उठा!

अमृतसर-कांग्रेस :: खिलाफत-आन्दोलन

इसी समय की बात है कि मुसलमानों की ओर से 'खिलाफत' नामक आन्दोलन शुरू हुआ। गांधीजी ने दिल्ली में उसकी एक कान्फरेस की अध्यक्षता ग्रहण की और हिन्दू-मुसलमान दोनों ही को स्वदेशी की प्रतिज्ञा लेने तथा विदेशी वस्त्रो का पूर्ण बहिष्कार करने के लिए पुकारा। उधर प० मोतीलालजी के सभापतित्व में सन् १९१९ के दिसम्बर में कांग्रेस का प्रसिद्ध अमृतसर-अधिवेशन हुआ, जिसमें एक साथ ही एक ही मच पर लोकमान्य, गाधीजी, मालवीयजी, देशबन्धु और स्वय मोतीलाल, इन आधुनिक भारत के पाँच महान् राष्ट्रनायको के एकत्रित होने की कभी भी न भूलने-वाली झाँकी दिखाई दी! इस प्रसिद्ध अधिवेशन में 'माटेगू-चेम्सफर्ड सुधारों' के प्रश्न को लेकर नेताओं में काफी कशमकश भी हुई। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो इस समय हुई, वह तो यह थी कि तब से ही क्रमशः कांग्रेस की शक्ति (बागडोर) गांधीजी के हाथो में आई। उधर खिलाफत का आंदोलन भी दिन पर दिन तेजी पकड़ता चला गया। उसके सम्बन्ध में गाधीजी का आशीर्वाद पाकर मौ० मुहम्मदअली के नेतृत्व में इंगलैण्ड के लिए एक डेपूटेशन भी रवाना हो गया!

तब प्रकाशित हुई पंजाब के हत्याकाण्ड के संबंध में सरकार द्वारा बिठाई गई हंटर-कमेटी की वह प्रसिद्ध रिपोर्ट, जिसमें दिए गए विवरणों से

गांधीजी का दिल ऐसा हिल उठा कि उनके मन से इस अत्याचारी सरकार के प्रति रही-सही सहानुभूति भी अब उखड गई ! फलतः सरकार के साथ सहयोग करने की नीति को तिलांजलि देकर अब वह बन गए एक पक्के असहयोगी। इस प्रकार भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का एक नया युग सामने आया।

असहयोग-आन्दोलन

इस युग का आरंभ हुआ २८ मई, १९२०, के दिन खिलाफत-कमेटी के उस असहयोग के प्रस्ताव से, जिसके कि अनुसार पहली अगस्त को असहयोग-आन्दोलन के समर्थन मे पुनः एक देशव्यापी हड़ताल मनाने का निश्चय किया गया। दुर्भाग्य से उसी दिन बबई में लोकमान्य तिलक सदा के लिए उठ गए। इससे वह हड़ताल एक महान् शोक-दिवस में परिणत हो गई। फिर भी प्रदर्शन जोरो के साथ हुआ। इसके शीघ्र ही बाद सितबर मास में लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया। उसमें काफी बहस के बाद पहले-पहल असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इसके दो महीने बाद नागपुर के सुप्रसिद्ध अधिवेशन मे असहयोग, हिन्दू-मुस्लिम एकता, खद्दर-प्रचार एव अस्पृश्यता-निवारण सबधी कार्यक्रम की सपूर्ण स्वीकृति के साथ, देश ने पूरे विश्वास और अधिकारो सहित गांधीजी को अपना एकमात्र सेनानी स्वीकार कर लिया। फलतः अहिसात्मक लड़ाई का केसरिया बाना पहनकर कांग्रेस ने अब विधिपूर्वक सक्रिय युद्ध का शखनाद कर दिया !

जनशक्ति का वह अनूठा उभाड़

फिर तो देश में जो व्यापक तूफान उठा और जागृति की जैसी अपूर्व आँधी आई, जो-जो अनोखी लड़ाइयाँ लड़ी गई और जैसे-जैसे अभूतपूर्व बलिदान किए गए, उनका सपूर्ण ब्योरा देने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही कहाँ है ! कौन नही जानता कि गांधीजी द्वारा उस महान् युद्ध की घोषणा होते ही अपने महान् नेता की एक ही आवाज पर देखते ही देखते विद्यार्थियों ने स्कूल-कॉलेज खाली कर दिए ! वकीलों ने अदालतें छोड़ दी ! पदवीधारियों में से बहुतों ने अपनी उपाधियाँ लौटा दी। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी का अगीकार सबका धर्म-सा बन गया। जगह-जगह विलायती वस्त्रों की होलिगाँ धधक उठी। देश भर मे चरखे और खद्दर का मन्त्र गूंज उठा। नए-नए राष्ट्रीय विद्यापीठ उठ खड़े हुए। राष्ट्रीय आवाज को बुलन्द करनेवाले पत्र-पत्रिकाओं की भी बाढ़-सी आ गई। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे की बाँह थामे एक ही झडे के नीचे साथ-साथ बढ़ते दिखाई दिए। जेलों में सत्याग्रहियों की भीड़ के मारे जगह तक बाकी न रही। यहाँ तक कि कोमलागी महिलाएँ भी चूड़ियों की जगह सरकारी हथकड़ियाँ धारण करते हुए न हिचकी ! ऐसा प्रतीत हुआ कि शासनसत्ता का गढ़ अब ढहा, तब ढहा ! इस समय तक लगभग तीस हजार सत्याग्रही जेलों में पहुँच चुके थे। उनमें थे मोतीलाल, देशबन्धु, लाजपतराय और जवाहरलाल जैसे रत्न भी !

युद्ध-विराम और कारावास

इसी समय की बात है कि एक और महत्त्वपूर्ण मोर्चे के आरभ की सूचना देते हुए गांधीजी ने गुजरात के बारदोली नामक स्थान में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का इरादा प्रकट किया। किन्तु तभी वज्रपात की भाँति एकाएक चौरीचौरा के हत्याकाण्ड की घटना घटी और आन्दोलन में हिसा की बू घुसते देखकर हमारे सेनापति ने सारा आन्दोलन तत्काल ही पुनः स्थगित कर दिया ! सब कोई दिल मसोसकर रह गए ! इसके शीघ्र ही बाद सरकार ने १० मार्च, सन् १९२२ ई०, के दिन स्वय गांधीजी को भी, उनके नवप्रकाशित 'यग इडिया' तथा 'नवजीवन' नामक पत्रों के कतिपय लेखों को राजद्रोहात्मक बताकर, गिरफ्तार कर लिया। पुनः न्याय का एक थोथा नाटक रचा गया और लोकमान्य की भाँति भारत के इस सबसे बड़े महापुरुष को भी छः वर्ष की सजा देकर गोरी नौकरशाही ने उन्हें एक लबे अरसे के लिए अपनी जेल का मेहमान बना लिया !

इस प्रकार हमारी आजादी की लड़ाई का पहला सर्ग संपूर्ण हुआ। इस लड़ाई के प्रथम दौर ने इस महान् नेता के अगाध सामर्थ्य का परिचय देकर तथा स्वतः अपनी गुह्य शक्तियो के प्रति भी आत्म-विश्वास का एक अपूर्व भाव हमारे मन मे जगाकर, और भी जोरों के साथ अगला कदम बढ़ाने की तैयारी करने का एक हौसला इस देश में पैदा किया। उसने देश की कोटि-कोटि जनता को पहले-पहल राजनीतिक मैदान मे लाकर खड़ा कर दिया ! उसी ने एकदम सीधी और सक्रिय कार्रवाई द्वारा मुक्ति का प्रयास करने की

प्रेरणा प्रथम बार हमें दी ! इस प्रकार हमारे स्वातंत्र्यानुष्ठान की सारी शक्ल ही उसने बदल दी ! न केवल राजनीति के आँगन में, बल्कि समाज, साहित्य, कला, धर्म, विचार, उद्योग, सभी के क्षेत्रों में युगान्तर की एक नवीन लहर उसने जगा दी ! और यह सब-कुछ उसी एक महान् जादूगर का चमत्कार था, जो कि दक्षिण अफ्रीका के तट से कुछ ही वर्ष पूर्व आकर पुनः स्वदेश की भूमि पर हमारे बीच उतरा था !

पेट का आपरेशन :: इक्कीस दिन का अनशन

इसके बाद एक ओर गांधीजी तो गए जेल के मेहमान बनकर और दूसरी ओर कारागार से बाहर आकर देशबन्धु दास तथा पडित मोतीलाल ने गवर्नमेण्ट से दो-दो हाथ करने का अपना प्रसिद्ध अडंगा नीतिवाला कौंसिलों का मोर्चा रचा ! सन् १९२४ के आरंभ में पेट में फोड़ा हो जाने के कारण एक खतरनाक आपरेशन के उपरान्त गांधीजी को अवधि से पहले ही सरकार ने जेल से मुक्त कर दिया। उसी वर्ष की बात है कि जब दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, नागपुर, जबलपुर, गुलबर्गा और कोहाट आदि स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम दगों की भयंकर दुर्घटनाएँ घटी, तो प्रायश्चित्तस्वरूप अगले सितबर मास में दिल्ली मे २१ दिनों का अपना पहला इतिहासप्रसिद्ध उपवास करते हमने उन्हें देखा। तीन महीने बाद ही बेलगाँव के उन्तालिसवें अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर बिठाकर राष्ट्र ने पुनः उनकी अर्चना की। इस अधिवेशन में खादी, स्वदेशी, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, तथा अस्पृश्यता-निवारण विषयक उनके कार्यक्रम को अपनाकर देश ने उनके नेतृत्व में सपूर्ण विश्वास प्रकट किया।

इसके बाद के कुछ वर्ष गांधीजी ने राजनीतिक अखाड़े की कुश्तियों से एकदम किनारा कसकर केवल अपने रचनात्मक कार्यक्रम, विशेषकर खादी-प्रचार एवं अस्पृश्यता-निवारण को सफल बनाने ही में बिताए। परन्तु उनका यह रचनात्मक कार्यक्रम भी वस्तुतः देश की आजादी की लड़ाई का ही एक प्रधान अग था। वह उनके मनोराज्य के उस आदर्श स्वराज्य की प्रस्थापना का पहला और सबसे आवश्यक सोपान था, जिसका उल्लेख 'रामराज्य' के नाम से बार-बार वह किया करते थे ! इसी अरसे में देश भर में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करने तथा प्रान्त-प्रान्त के बीच माध्यम के एकमात्र साधन के रूप में उसके सरल रूप को प्रचलित करने के संबंध में भी उन्होंने जोरों के साथ कार्य करना शुरू किया। उन्होंने स्वयं तो बहुत पहले ही से हिन्दी में भाषण देना शुरू कर दिया था। अब कांग्रेस की भी कार्रवाई इसी भाषा में करने की प्रथा उन्होंने जारी कर दी। उन्हीं के प्रयत्न से दक्षिण भारत में राष्ट्रभाषा के प्रचार को आगे बढ़ाने के लिए सुप्रसिद्ध 'दक्षिणभारत हिन्दी-प्रचार-समिति की प्रस्थापना हुई। साथ ही प्रयाग के प्रख्यात 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' को भी (जिसका कि सभापतित्व का भार अपने जीवन में दो बार उन्होंने ग्रहण किया था) अपना अखिल भारतवर्षीय रूप उन्ही के प्रताप से मिला। इसके अतिरिक्त नागरी लिपि के सुधार, गोवश के उद्धार, ग्राम-उद्योगों के विस्तार, महिलाओं के उत्थान, शिक्षा-प्रसार, आदि-आदि और भी कितने ही जनोन्नति के कार्य उनके इस विशद रचनात्मक कार्यक्रम के दायरे में आकर उनके जादूभरे सस्पर्श से मुखरित हुए, जिनसे कि आज हम सब बखूबी परिचित है !

पूर्ण स्वतंत्रता का ध्येय :: सविनय अवज्ञा

इस बीच राष्ट्र के हृदय में राजनीतिक मुक्ति की उत्कंठा की आग भी भीतर ही भीतर ज्यों-की-त्यों सुलग रही थी। अतः जब शासन-सुधारों के संबंध मे ब्रिटिश पार्लमेण्ट द्वारा प्रेषित 'सायमन-कमीशन' के भारत-आगमन पर जगह-जगह विरोध-प्रदर्शन हुए और उसी सिलसिले में लालाजी, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा पं० गोविन्दवल्लभ पंत जैसों पर भी पुलिस की लाठियाँ बरस पड़ी (जिससे कि लालाजी तो असमय ही सदा के लिए हमारे बीच से उठ ही गए), तब तो एक बार पुनः भीतर ही भीतर प्रज्वलित वह अग्नि धधके बिना न रह सकी। फलतः ३१ दिसम्बर, सन् १९२९ ई०, की आधी रात को जवाहरलालजी की अध्यक्षता में लाहौर में काग्रेस द्वारा पहले-पहल पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय की उद्घोषणा के साथ पुनः युद्ध का शंखनाद कर दिया गया ! इसके शीघ्र ही बाद आगामी २६ जनवरी को सारे देश में 'स्वतत्रता-दिवस' मनाकर लाखों-करोड़ों नर-नारियों द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए गंभीर शपथ ली गई। तभी इस परम ध्येय की सिद्धि के हेतु कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन का श्रीगणेश करने का निश्चय किया, जिसके कि अनुसार १४ फरवरी, सन् १९३० ई०, के दिन अंतिम रूप से

पूर्ण अधिकार सौंपकर गांधीजी को आगामी युद्ध का सर्वोपरि सेनानी अथवा 'डिक्टेटर' नियुक्त कर दिया गया।

युद्धारंभ से पहले सदैव की अपनी नीति के अनुरूप शांतिपूर्ण समझौते के प्रयास में गांधीजी ने वायसराय के नाम एक पत्र लिखा, जो रेजिनाल्ड रिनाल्डज् नामक एक अंग्रेज के हाथों दिल्ली पहुँचाया गया। किन्तु स्वतः उन्ही के शब्दों में जब 'घुटनों पर झुक-कर रोटी माँगने पर मिला बदले में केवल पत्थर का टुकडा ही,' तब तो सिवा युद्ध की बिगुल बजा देने के कोई मार्ग शेष न रह गया!

नमक-सत्याग्रह :: दाँड़ी-यात्रा

अतः १२ मार्च, सन् १९३० ई०, के दिन पूर्ण स्वराज्य न मिलने की घड़ी तक वापस न लौटने की भीष्मप्रतिज्ञा करके इस महापुरुष ने, ७९ चुने हुए सत्याग्रहियों की एक टोली लेकर, अहमदाबाद के अपने आश्रम से नमक-कानून भग करने के इरादे से पैदल ही समुद्र-तट की ओर प्रयाण किया। इस प्रकार आरंभ हुई उसकी वह ऐतिहासिक 'दाँड़ी-यात्रा', जिसकी कि समता की हृदय हिला देनेवाली दूसरी कूच भग-वान् श्रीराम के वन-गमन के बाद इस महादेश को पिछले हजारो वर्षों से देखने को नहीं मिली थी! इस दो सौ मील लंबी यात्रा को तय करने में गाधी-जी को चौबीस दिन लगे। इस बीच हाथों में लकु-टिया लिए एवं माथे पर कुकुम-तिलक लगाए, तेजी के साथ कदम बढ़ाते हुए, इस लँगोटीधारी वृद्ध तपस्वी का दर्शन करके उसकी चरणधूलि मस्तक पर लगाने के लिए हजारो की संख्या मे नर-नारी उमड़ पड़े! उसकी अगवानी में उन्होने जिस प्रकार अपने पलक-पाँवड़े बिछाए और आम्र, ताड़ आदि वृक्षों से आच्छा-दित तथा बदनवारों से सुसज्जित उसकी राह के दोनों बाजू मे कतार बाँधकर जिस प्रकार जगह्-जगह वे सब श्रद्धानत खड़े रहे, उसकी झाँकी देखकर सारा संसार चकित रह गया! कोई भी यह समझ न पाया कि आखिर गैर-कानूनी ढंग से मुट्ठी भर नमक हथियाकर ही यह दुबल-पतला निहत्था आदमी क्यों-कर एक साम्राज्य के पंजों से अपने देश की आजादी छीन सकेगा!

५ अप्रैल को प्रातःकाल दाँड़ी के समुद्र के किनारे पर पहुँचते ही, चौबीस दिन के बाद अन्त में अपने साथियों सहित नमक बीनकर, कानून का उल्लंघन करने की अपनी ऐतिहासिक घोषणा गांधीजी ने की। उनके हाथों इस प्रकार राज्य के कानून के टूटने की घटना का संकेत पाते ही जगह-जगह सविनय अवज्ञा आन्दोलन के रूप में युद्ध की आग भड़क उठी। उसकी आँच पाकर अब सारे देश में ही जगह-जगह उसी प्रकार नमक बनाकर कानून भग किया जाने लगा। लाखों की संख्या में सभाओ में लोग जुटने लगे। मीलो लम्बे जुलूस निकलने लगे। पुनः गिरफ्तारियों, लाठियों, गोलियो, संगीनों का नाटक दोहराया जाने लगा। जब यह सब-कुछ हुआ, तब कही जाकर दुनिया ने जाना कि के इस नए अनुष्ठान में कैसा जादू छिपा था!

यरवड़ा-जेल :: 'गांधी-ईर्विन-पैक्ट'

इसके हफ्ते भर बाद ही राष्ट्रपति जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए और ५ मई को तो स्वयं गांधीजी भी आधी रात को चुपके से गिरफ्तार करके यरवड़ा-जेल पहुँचा दिए गए! तब तो आर्डिनेन्सों के अंधेर-राज्य के अधीन दमन की अन्धाधुन्धी एव जनान्दोलन की बढ़ती के साथ बलिदान की पुनरा-वृत्ति का एक अपूर्व सिलसिला शुरू हुआ। पुनः सत्या-ग्रहियों से जेलें भर गई। स्कूल-कॉलेज विद्यार्थियों से खाली हो गए। करोड़ों का विदेशी कपडा मुहरबद दूकानों में बंद कर दिया गया। धरना देनेवालों के मारे शराब की दूकानों पर ताले पड़ गए। जंगलो के कानून तोड़ दिए गए। पुलिस की सगीनों का सामना करते हुए हजारों की टोलियो ने नमक-गोदामो पर धावे मारे। लाठियों और गोलियों की बौछार तथा मकानों की जब्ती और जुर्मानो की भरमार हो चली। पर इन सबसे कही अधिक आश्चर्यजनक रीति से रचा गया बारदोली का वह गौरवपूर्ण अध्याय, जिसने कि किसानों द्वारा सामूहिक रूप से लगान देने से इकार करने, अपने हाथों अपनी खड़ी फसलों को जलाकर अपने-अपने घरो से हिजरत कर जाने, तथा हर प्रकार से सरकारी हुकूमत को पंगु बना देने का अनोखा दृश्य प्रस्तुत किया। इस अनुष्ठान की पूरी कहानी लिखने की गुजाइश ही यहाँ कहाँ है!

पुनः यही प्रतीत हुआ कि शासनसत्ता का किला अब टूटा, तब टूटा! किन्तु इसी समय घबड़ाकर सरकार ने समझौते की बातचीत शुरू कर दी। इस सिल-सिले में तेजबहादुर सप्रू और जयकर ने जेल में बारी-बारी से गांधीजी तथा पंडित मोतीलाल और जवाहर-लाल से मिलकर सधि-चर्चा चलाई! अंततोगत्वा

'गांधी-ईर्विन-पैक्ट' नामक वह प्रसिद्ध समझौता हुआ, जिसके अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया गया। इसके कुछ ही महीने बाद कांग्रेस की ओर से एकमात्र प्रतिनिधि के रूप मे द्वितीय गोलमेज परिषद में सम्मिलित होने के लिए गांधीजी को लदन भेजा गया !

दूसरा उपवास :: 'पूना-पैक्ट'

परन्तु उस विलायत-यात्रा से निराशा ही हाथ लेकर वह वापस लौटे। इधर देश में फिर से दमन का दौरदौरा बढ़ा। पुनः जवाहरलाल तथा अब्दुल-गफ्फारखाँ जैसे नेता कारागार के सीखचों की आड़ में बंद कर दिए गए। अतः कांग्रेस-कार्यकारिणी को विवश होकर फिर से गांधीजी को आन्दोलन जारी करने का अधिकार देना पड़ा। इधर सरकार ने भी जवाब में कांग्रेस तथा उससे सलग्न समस्त राष्ट्रीय सस्थाओं को गैर-कानूनी घोषित करके तथा महात्माजी को फिर से यरवड़ा-जेल में नजरबंद करके तुरन्त ही उस चुनौती को मजूर कर लिया। इस प्रकार फिर मे कानून-भग और बहिष्कार, जुलूस और लाठीमार, गिरफ्तारी और जब्ती, तथा गोलियों की बौछार का वही पुराना नाटक जगह-जगह दोहराया जाने लगा। इस दमनचक्र के अतर्गत सुभाषचन्द्र, वल्लभभाई, प्रभृति सभी मुख्य-मुख्य नेता जेलों में ठूंस दिए गए— यहाँ तक कि वृद्ध मालवीयजी को भी कुछ दिनों के लिए बाहर न रखा गया ! किन्तु ऐमा अनूठा था जनता का उत्साह और लड़ाई के मैदान में एक कदम भी पीछे न हटने का उसका जोश कि इस सारे दमन-ताण्डव के बावजूद भी पुलिस को छकाकर इन्ही दिनों दिल्ली में गैर-कानूनी तौर से कांग्रेस का एक अधिवेशन किया गया !

इन्हीं दिनों की बात है कि 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा होने पर, दलितों को हिन्दुओं से पृथक् रखने की कूटयोजना के विरोध में, गांधीजी ने यरवड़ा-जेल में सितबर, १९३२ ई०, में इक्कीस दिनों का अपना इतिहासप्रसिद्ध लबा उपवास किया। यह अनशन लग-भग मृत्यु के मुख पर पहुँचकर उन्होंने 'पूना-पैक्ट' नामक प्रख्यात समझौते के होने पर छोड़ा। इस अवसर पर स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्ति-निकेतन से दौड़कर यरवड़ा (पूना) पहुँचे थे और वहाँ उन्होने अपने श्रीमुख से गांधीजी को अपने वे गीत सुनाए थे, जो कि उन्हें अत्यन्त प्रिय थे !

हरिजनोद्धार

इसके बाद कुछ समय के लिए राजनीतिक लड़ाई का युग एक प्रकार से स्थगित-सा हो गया और उसके बदले आरम्भ हुआ तथाकथित 'अछूतों' अथवा (स्वतः गांधीजी ही की शब्दावली में) 'हरिजनों' के उद्धार का वह युग, जबकि भिखारियों की तरह झोली लटकाकर उन्होंने सारे देश का इस छोर से उस छोर तक एक लम्बा प्रवास किया। उन्होंने हिन्दू-समाज के इस घृणित कलंक को धो डालने के लिए जोरों से स्थान-स्थान में अपनी आवाज बुलन्द की ! उनके हाथों इस अनुष्ठान के आरंभ होने के कारण चंद दिनों ही में हिन्दू-समाज के आँगन में एक अद्भुत और असम्भव-सी सामाजिक क्रान्ति होते दिखाई दी। जगह-जगह हरिजनों के लिए मदिरों के दरवाजे धड़ाधड़ खुल गए और उन्हें बड़े प्रेम से गले लगाया जाने लगा। उनके उत्थान के लिए जनता की ओर से हर प्रकार से सहायता देने के प्रयास होने लगे, यद्यपि प्रतिक्रियावादी कट्टरपथियों द्वारा इस संबंध में गांधीजी पर कीचड़ उछालने में भी कोई कोर-कसर न की गई—यहाँ तक कि पूना में तो किसी ने उस समय उन पर बम फेकने तक का प्रयास किया, जिसमे कि बाल-बाल वह बचे ! इन्ही दिनों की बात है कि विरोधी दल के एक नेता प० लालनाथ पर किसी के द्वारा लाठी चलाई जाने के प्रायश्चित्त-स्वरूप गांधीजी ने पुनः एक हफ्ते का उपवास किया, जिससे उनकी प्रखर अहिंसावादिता एवं ऊँचाई का अनुमान किया जा सकता है !

'हरिजन', 'हरिजन-बन्धु' और सेवाग्राम

तदनतर सविनय अवज्ञा और असहयोग का युद्ध का वाना कुछ समय के लिए त्यागकर कांग्रेस १९३५ ई० के लगभग पुनः कौसिलो की ओर अभिमुख हुई। ऐसा होने पर कांग्रेस के सर्वेसर्वा होकर भी गांधीजी बंबई-अधिवेशन में उसकी सदस्यता से अलग हो गए, यद्यपि उसकी बागडोर तो इसके बाद भी उन्ही के हाथों मे बनी रही। इन्हीं दिनों अहमदाबाद के अपने प्रख्यात 'साबरमती-आश्रम' को तोड़कर सन् १९३६ ई० के मई मास में वर्धा के समीप सेगाँव (सेवाग्राम) नामक बस्ती में उन्होने अपना एक नया आश्रम जा जमाया। मध्यप्रदेश का यह छोटा-सा गाँव कांग्रेस की कार्य-कारिणी की बैठकों के कारण तब से मानो भारत की

राष्ट्रीय राजधानी-सा बन गया ! इसके पूर्व सन् १९-३३ ई० के मई महीने में आत्मशुद्धि के हेतु पुनः २१ दिन का एक दीर्घ उपवास वह कर चुके थे। उसके तीन महीने बाद ही साबरमती-आश्रम को भंग करते समय, सरकारी रोक के बावजूद रास नामक गाँव को जाने तथा पूना से बाहर जाने के निषेध-विषयक आज्ञा का उल्लघन करने के अपराध में पुनः वर्ष भर की सजा पाकर वह जेल के मेहमान भी बन चुके थे । इस कारावास के दौरान में फिर से एक लंबा उपवास उन्होने किया था, जिसके कारण अवधि से पहले ही सरकार को उन्हे छोड़ देना पड़ा था । यही जमाना था जबकि प्रसिद्ध 'हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना की गई थी और तभी 'यग इंडिया' और 'नवजीवन' के उत्तराधिकारियों के रूप में 'हरिजन' एव 'हरिजन-बन्धु' नामक उन पत्रों को उन्होने पहले-पहल निकालना शुरू किया था, जोकि तबसे उनकी वाणी के मुखपत्र जैसे बन गए थे ।

प्रांतीय मंत्रिमंडल :: व्यक्तिगत सत्याग्रह

इसके बाद की उनकी जीवन-घटनाएँ तो हमारे आज के अपने युग के एकदम इतनी नजदीक आ जाती है कि शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो कि उनसे अपरिचित रहा हो ! स्वय गांधीजी ही का आशीर्वाद पाकर, कांग्रेस ने सन् १९३७-३९ ई० के ढाई वर्षों की अवधि में पुनः धारा-सभाओं में अपना मोर्चा स्थापित करके पहले-पहल प्रातो के शासन की बागडोर सँभालने का एक नवीन प्रयोग करके देखा था । किन्तु अन्त में योरप में दूसरे महासमर की आग भड़क उठने पर, जब पग-पग पर उसे विशिष्ट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तो उस नकली स्वराज्य से किनारा कसकर शीघ्र ही सरकारी कुर्सियाँ छोड़ उसे पुनः मैदान में आ खड़ा होना पड़ा । तब तो स्वभावतः ही विदेशी शासन-तन्त्र के साथ फिर से उसकी गहरी रस्साकसी शुरू हो गई ।

इस प्रकार १९४२ ई० के उस महान् जन-संग्राम की नींव पड़ी, जिसने कि अंतिम रूप से इस देश की भूमि पर से अंग्रेजों के पैर उखाड़ दिए ! इसी अरसे में गांधीजी मार्च, १९३९ ई०, में राजकोट के सत्ताधारियों की कतिपय ज्यादतियों के विरोध में अनशन की एक अग्नि-परीक्षा में से पुनः सफलतापूर्वक बाहर निकल चुके थे । साथ ही १९४१ ई० के अक्टोबर मास में अपने उस इतिहासप्रसिद्ध 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' का भी अनूठा दृश्य वह रच चुके थे, जिसके कि उद्घाटन का श्रेय पाकर उनके अनन्य शिष्य विनोबा भावे ने देश के इतिहास में तब से अपना एक विशेष स्थान बना लिया ! यद्यपि यह सत्याग्रह बहुत ही अल्पकालिक रहा था, क्योंकि शीघ्र ही उसके सिलसिले में गिरफ्तार किए गए तमाम राजबदियों को सरकार ने छोड़ दिया था । फिर भी वह कोई कम महत्त्व का न था, क्योकि उसने ही उस शिथिलप्राय वातावरण में जनशक्ति की लौ को मद पड़कर बुझ जाने से बचाए रक्खा था !

'भारत छोड़ो' की युगान्तरकारी ललकार

तदनन्तर एक ओर तो कई दिनों तक थोथे आश्वासनों का नाटक रचकर चर्चिल सरकार की कूटनीतिज्ञ ने प्रसिद्ध 'क्रिप्स-मिशन' के रूप में भारतीय आकांक्षाओ की पूर्ति करने की अपनी मंशा का ढोंगभरा स्वाँग दिखाया । दूसरी ओर उनकी चालबाजी को समझकर गांधीजी ने उन्ही को सबोधित कर 'भारत छोड़ो' का अपना वह युग-प्रवर्तक नारा बुलद किया, जो कि इस देश में विगत डेढ सौ वर्षो से आतक का डेरा प्रस्थापित किए हुए ब्रिटिश साम्राज्यशाही के लिए मृत्यु-घंट का नाद साबित हो गया ! इसी नारे के साथ छिड़ा १९४२ ई० का वह महान् जन-सग्राम, जो कि अग्रेजों को इस देश से निकाल बाहर करने का हमारा सबसे जोरदार और अतिम निर्णयात्मक मोर्चा था !

इस युद्ध का श्रीगणेश ९ अगस्त, १९४२ ई०, के उस युगान्तरकारी प्रातःकाल की घड़ियों में हुआ, जबकि बबई में अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति के मंच से विधिवत् 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया गया तथा गांधीजी द्वारा 'करेगे या मरेगे' की नवीन शपथ की घोषणा की गई । इस घोषणा के कुछ ही घटे बाद, लड़ाई शुरू होने से पहले ही, सरकार ने स्वयं गांधीजी, जवाहरलाल, वल्लभभाई, अबुलकलाम आजाद, आदि नेताओं एवं कांग्रेस-कार्यकारिणी के अन्य सभी सदस्यों से लेकर छोटे-से-छोटे कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं तक सभी देशसेवकों को जगह-जगह गिरफ्तार कर लिया । उसने उन्हें बिना मुकदमा-मामला चलाए ही 'भारत-रक्षा-कानून' की आड़ में जेलों में ठूँस दिया !

स्वयं गांधीजी तो अपने कुछ निजी साथियों एवं श्रीमती कस्तूरबा के साथ इस बार पूना के समीप स्थित

आगाखाँ की कोठी में कड़े पहरे में नजरबंद किए गए थे। उधर पंडित जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल आदि कार्यकारिणी के सदस्यों को उनसे अलग अहमदनगर के किले में कैद किया गया था! यह सारी कार्रवाई इस प्रकार छिपाकर गुपचुप ढंग से की गई कि बहुत दिनों तक तो जनता को पता ही नहीं लग पाया कि आखिर ये सब नेता कहाँ ले जाए गए थे!

इसके बाद तो जन-शक्ति का एक अपूर्व रुद्र-रूप सारे देश में प्रकट हुआ। अपने प्रिय नेताओं की अनुपस्थिति में जनता ने स्वयं अपने ही हाथों में युद्ध की बागडोर ले ली। इधर आजादी का यह रण-यज्ञ रचा गया, उधर नौकरशाही ने लाठियों, संगीनों और मशीनगनों के नग्न ताण्डव का कभी भी न सुने गए वीभत्स अत्याचारों का अभिनय किया। उस अत्याचार के सामने हर प्रकार से लोहा लेकर अगणित बेनाम देशभक्तों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। घर-जायदाद, गाँव-खेत आदि सर्वस्व की आहुति चढाकर हँसते-हँसते उन्होंने अपने आपको गोलियों और संगीनो का निशाना बनने दिया। लगभग दो-ढाई वर्ष तक जारी रहनेवाले इस अभूतपूर्व बलिदान-यज्ञ के सुफल के रूप में ही अत में इस देश से सदा के लिए ब्रिटिश सत्ता का डेरा-तबू उखड़ा! इस महान् युगान्तर की चरम सिद्धि की सूचना संसार को उस दिन मिली, जब कि उसके प्रतीक के रूप में दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले पर पंडित जवाहरलाल के हाथों १५ अगस्त, सन् १९४७ ई०, के दिन अपना नवसिद्ध चक्रांकित तिरगा ध्वज पहली बार फहराया गया। उस गौरवपूर्ण कहानी से आज के दिन कौन भारतवासी अपरिचित और अनजान होगा!

कस्तूरबा और महादेव का चिरवियोग

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि अन्य कई राष्ट्रसेवकों की भाँति स्वय गांधीजी को भी इस बार अपने दो सबसे अधिक प्रिय जीवन-साथियों की भेंट स्वातंत्र्य-युद्ध की वेदी पर चढ़ानी पड़ी। एक तो थी उनके हृदय-समान महान् प्रतिभाशाली श्री महादेव देसाई की बलि, जो आगाखाँ-कोठी में नजरबंद किए जाने के हफ्ते भर बाद ही रहस्यपूर्ण ढंग से अकस्मात् इस दुनिया से चल बसे! दूसरी उनकी महान् सहधर्मिणी कस्तूरबा की बलि थी, जिन्हें भी इस घटना के डेढ़ वर्ष बाद जेल-जीवन की कठोरताओं तथा उपचार-विषयक अव्यवस्थाओं के फलस्वरूप असमय ही सदा के लिए इस लोक से उठ जाना पड़ा! इन दोनों ही शहीदों का अंतिम संस्कार आगाखाँ-कोठी के हाते में ही किया गया। वहीं स्वयं अपने हाथों चुनकर पुण्य-पुरुष गांधी ने उन दोनों की वे समाधियाँ निर्मित कीं, जो एक सजीव करुणकाव्य के रूप में युग-युग तक अपनी कहानी इस देश को सुनाती रहेंगी!

पुनः अनशन :: गांधी-जिन्ना-वार्त्ता

इस बीच अपनी इस नजरबंदी ही की दशा में फरवरी, सन् १९४३ ई०, में तीन हफ्ते का एक और लंबा उपवास गांधीजी कर चुके थे, जिसके कारण उनकी हालत इतनी अधिक कमजोर हो गई थी कि डॉक्टरों तक ने उनके जीवन की आशा छोड़ दी थी। फिर भी सरकार उन्हें जेल से मुक्त करने को तैयार नहीं हुई थी। यह देश का परम सौभाग्य था कि अपने अगाध आत्मबल के सहारे इस कठोर अनशन की घाटी को वह सुरक्षित रूप से पूर्णतः पार कर गए। किन्तु कस्तूरबा के देहावसान के कुछ ही हफ्ते बाद उनका स्वास्थ्य पुनः एकाएक बहुत गिर गया। आखिर स्थिति को हद से बाहर जाते देखकर नौकरशाही ने उन्हें बिना शर्त्त रिहा कर देने ही में अपनी भलाई समझी! इस प्रकार पूरे पौने दो वर्ष के बाद ६ मई, १९४४ ई०, के दिन आगाखाँ-कोठी से वह पुनः बाहर आए। जेल से छूटकर कई दिनों तक स्वास्थ्य-लाभ के लिए पहले बंबई में जुहू के समुद्र-तट पर और तब पूना में एक प्राकृतिक चिकित्सालय में वह टिके रहे।

तदुपरान्त आरभ हुआ देश की उलझी हुई राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के प्रयत्न में दो-ढाई वर्षों तक जारी रहनेवाला उनका वह सुदीर्घ और सर्वविदित अनुष्ठान, जिसका श्रीगणेश सितंबर, सन् १९४४ ई०, में बंबई मे मुस्लिम लीग के प्रधान मियाँ जिन्ना के साथ उनके द्वारा उठाई गई समझौते की प्रख्यात किन्तु असफल बातचीत के साथ हुआ। यह संधि-चर्चा आजादी की सिद्धि और शान्ति की चिरस्थापना के लिए मुसलमानो को अंतिम हद तक मनाने के गांधीजी द्वारा किए गए सबसे कठिन प्रयास तथा उसी हद तक इस कार्य में मानो हर प्रकार से रोड़ा अटकाने के लिए कमर कसकर बैठे हुए मियाँ जिन्ना की हठधर्म्मिता एवं देश-द्रोह के चिर प्रमाण के रूप में इस देश के इतिहास में युग-युग तक याद रहेगी! इस ऐतिहासिक अनुष्ठान की समाप्ति हुई अंत में 'भारत' एवं 'पाकिस्तान' के

रूप में इस देश के कृत्रिम विभाजन और उसके परिणामस्वरूप १९४७ ई० की १५ वीं अगस्त के दिन इस देश की भूमि पर से विदेशी साम्राज्यशाही का किला अंतिम रूप से ध्वस्त होने साथ ही हमारे वायुमण्डल में राजनीतिक स्वातन्त्र्य के प्रभातकाल के उस प्रस्फुटन द्वारा, जिसकी गाथा से हम सभी भली भाँति सुपरिचित हैं।

कटु स्मृतियाँ

इस बीच १९४५ ई० की 'शिमला-कान्फरेन्स' से लेकर 'ब्रिटिश केबिनेट-मिशन' की १९४६ ई० की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घोषणाओं तक, देश के राजनीतिक अखाड़े में न जाने कितने पेचीदा और उलझनभरे दाँव-पेचों और कूटचालों से रँगे हुए पैंतरों का हमारे राष्ट्र-नेताओं को मुकाबला करना पड़ा। उन्हें एक ओर साम्राज्यवादी ब्रिटिश सत्ता के चाणक्य जैसे मँजे हुए राजनीतिक शतरंज के चतुर खिलाड़ियों के साथ तथा दूसरी ओर स्वतः अपने ही देश की संप्रदायमूलक मुस्लिम लीग एव सामन्तवादी राजानवाबों के गुट्ट की दोहरी स्वातंत्र्य-विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ एक लंबी कुश्ती लड़ना पड़ी। उस रस्साकसी का विवरण प्रस्तुत करने के लिए यहाँ न तो पर्याप्त स्थान ही है, न वह हमारे प्रसग का विषय ही है! साथ ही यहाँ उन दुर्भाग्यप्रद कलकमयी घटनाओं का व्योरा लेखबद्ध करना भी इस क्षण हमें अभीष्ट नही है, जोकि ब्रिटिश कूटनीति द्वारा बोए गए फूट के विषवृक्ष एव मियाँ जिन्ना तथा मुस्लिम लीग द्वारा अपनाई गई पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, विद्वेष और 'दो राष्ट्रों' की नीति के जहरीले प्रचार के नैसर्गिक फल के रूप में अततोगत्वा इस देश के प्राङ्गण में प्रस्तुत हुई थी! ये घटनाएँ कलकत्ता, नोआखाली और पंजाब के प्रलयकर हत्याकाण्ड, निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बालकों के रक्तपात, राक्षसों को भी लजानेवाले नारकीय कुकृत्य तथा संसार के इतिहास में पहले कभी भी न देखी गई ऐसी लाखों असहाय नर-नारियों की एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में फेरबदली का वह कुचक्र लेकर हमारे सामने आई, जिसका कि ताँता आज भी संपूर्णतया टूटने नही पाया है! वह तो है वस्तुतः ऐसी एक लबी और दर्दनाक कहानी कि यदि उसका व्योरेवार चित्रण किया जाय, तो इस जमाने का दूसरा महाभारत तैयार हो जाय! उसे यहाँ न सुनाना ही अच्छा है!

उपनिषद्कालीन ऋषियों की-सी मंगलवाणी

वस्तुतः यहाँ तो हमारा ध्येय केवल उस तपोपुञ्ज महापुरुष की गगनविचुम्बित ऊँचाई और दिव्य व्यक्तित्व का भान कराना ही है! भला कौन नही जानता कि इस रक्त-रजित कलह के गहन घटाटोप में भी, कुहरे से आच्छादित तूफानी सागर के बीच अटल अडिग खड़े एक प्रकाशस्तभ की भाँति, अपने ज्योतिर्मय प्रेम-सदेश द्वारा सच्चे मार्ग की दिशा दिखाने के अपने पुण्यकार्य में क्षण भर के लिए भी उस सत ने विराम नही लिया था! किसके कानों पर उपनिषद्कालीन पुरातन ज्ञान-गोष्ठियों का स्मरण करानेवाली उस सत की नितप्रति की उन सार्वजनिक सांध्य-प्रार्थनाओं की ध्वनि आकर न टकराई थी! इस देश के विनाशोन्मुख अराजक तत्त्वों के शमन के हेतु निरतर उद्घोषित शान्ति, स्वस्ति और कल्याण के उसके अविरल बोधपाठ के वे मगलमय स्वर ही तो इस कोलाहल से भरी दुनिया के बीच पीड़ितों की एकमात्र आश्वासन की वस्तु थे!

वह अंगारमय पथ

साथ ही किसे ज्ञात नही है नोआखाली की उन पकिल वन-वीथिकाओं को एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकाकी ही पैदल नापने, साम्प्रदायिकता के दानव द्वारा ध्वस्त-त्रस्त प्रत्येक कुटिया के द्वार पर पहुँचकर रक्त से लथपथ घायल मानवता के घावों को धोने और असहाय विधवाओ एव विलखते हुए अनाथ बच्चों के आँसू पोछने के उसके महाप्रयास की अजरामर कहानी, जिसकी कि तुलना केवल दो हजार वर्ष पूर्व के हजरत ईसा मसीह अथवा उनसे भी पूर्व के भगवान् बुद्ध के करुणार्द्र प्रेमानुष्ठान ही से की जा सकती है? उस महत् अनुष्ठान की परम सिद्धि के रूप में पुनः आमरण उपवास के अगारमय पथ पर उतरकर पहले तो पचास लाख नर-नारियों को अपने अचल में बसाए हुए महानगर कलकत्ते में और तदनतर स्वय राजधानी दिल्ली ही में बुरी तरह फूट निकलनेवाली गृहकलह की चिनगारियों को देखते ही देखते किस प्रकार अकेले ही हाथ उसने ठंढा कर दिया था! उसी का तो यह जादू था कि पत्थर के दिलों ने भी पिघलकर उसके चरणों में पश्चात्ताप और लज्जा के आँसू गिराए थे! उसकी भी क्या किसी को याद दिलाने की आज आवश्यकता है?

किन्तु यह तो थी वस्तुतः उसके उस महाव्रत की केवल भूमिका मात्र, जिसका कि पुण्य-संकल्प लेकर यह संत इस देश के ललाट पर से दुर्भाग्य की रेखाएँ मिटाने के लिए अग्रसर हुआ था ! वह अब तक जो एक-एक तिल अपने आपको जनकल्याण के हवनकुण्ड में लगातार होमता चला जा रहा था, उसकी पराकाष्ठा—उसकी पूर्णाहुति—का अन्तिम विनियोग तो अब भी शेष ही था ! क्योंकि इस धरती पर से विदेशी शासन का झंडा उखाड़ा जा चुका था तो क्या, अब भी उसकी भीतरी आग तो ज्यों-की-त्यो जल ही रही थी। अब भी इस महापुरुष के अपने स्वप्नलोक का वह 'रामराज्य' तो सिद्ध होना शेष ही था, जिसका कि निर्देश वर्षों पूर्व ही इन स्मरणीय शब्दो में वह कर चुका था—

'मैं तो देख रहा हूँ एक ऐसे भारत के निर्माण का स्वप्न, जिसके कि आँगन में गरीब से गरीब भी यह अनुभव कर सके कि यह उसकी ही अपनी धरती है; जिसके निर्धारण में सभी की भरपूर आवाज हो; जिसमें ऊँच-नीच के इस वर्गीकरण का नामोनिशान भी न हो, और जिसमें सभी जाति के लोग पूर्ण सामजस्यपूर्वक मिल-जुलकर रह सकें !'

यह कैसा भारत ?

किन्तु अभी कहाँ था उसके मनोराज्य का वह आदर्श भारत ? कितनी अधिक दूर थी अब भी उसके स्वप्नलोक के उस 'रामराज्य' की मंजिल ? कारण, इस क्षण तो जिस प्रकार का भारत वह अपने चारों ओर पनपते देख रहा था, वह तो महा भयावह था। उसकी तुलना तो केवल एक ऐसे विनाशोन्मुख उद्भ्रान्त रोगी से ही की जा सकती थी, जो कि अपने ही मनोविकारों से उत्पन्न भीषण ज्वर-ताप से सतप्त होकर तेजी के साथ त्रिदोषजनित सन्निपात की अवस्था की ओर लुढ़कता चला जा रहा हो और उस भयंकर रोगाक्रांत दशा में स्वयं अपने ही हाथों अपने अंग-प्रत्यंग पर छुरी चलाता हुआ मदिरा पिए हुए की भाँति आत्महनन की सर्वनाश-क्रीड़ा में लीन हो ! यह तो ऐसा एक भारत था, जिसका कि आँगन रक्त-मज्जा से लथपथ था और जिसका घर अपने ही हाथों लगाई गई आग से धाँय-धाँय जल रहा था ! यद्यपि यह सच था कि डेढ़ सौ वर्षों से जो लौह कपाट उसके इस घर-आँगन को एक विशद बंदीगृह में परिणत किए हुए थे, वे अब खुल चुके थे। किन्तु अपनी कलाइयों पर मूर्खता की जो हथकड़ियाँ अब भी उसने कस रक्खी थीं, वे तो उसके इस उच्छृंखल ताण्डव की उछलकूद में दिन-पर-दिन और भी अधिक कसती चली जा रही थीं। तो फिर क्या इसी भारत का सपना अब तक हम सब देखते रहे ? इसी की सिद्धि के हेतु क्या इतना रक्त और पसीना बहाया गया और इसी के लिए पिछले तीस वर्षों में लक्ष-लक्ष नर-नारियों ने अपना सर्वस्व होमकर रचा था वह रण-यज्ञ ?

'मैं अब जीना नहीं चाहता'

रह-रहकर जी को कुरेदनेवाला यही प्रश्न उन्नासी वर्ष के इस बूढ़े सत के हृदय में अब नितप्रति उठने लगा। फलतः वही जो कि 'जीवेम शरद. शतम्' के आर्ष मंत्र में अभिव्यक्त दीर्घ जीवन की कामना रखते हुए १२५ वर्ष की पूर्ण आयु तक जीवित रहने का अपना सकल्प अब तक दोहराया करता था, अब दिन-प्रति-दिन अपने आसपास बढ़ते चले जा रहे उस विष के ज्वार को देखकर ईश्वर से बार-बार यही प्रार्थना करते देखा जाने लगा कि 'हे भगवन्, या तो तू इस जहर को शान्त कर दे या फिर इस धरती पर से मुझे उठा ही ले, मैं अब जीना नही चाहता !'

और कैसी अद्भुत थी उस प्रभु की लीला कि कुछ सप्ताहों के भीतर ही अंत में वह बात हो गई, जिसकी कि प्रतिध्वनि इस बूढे तपस्वी के उपर्युक्त मनोव्यथाजनित शब्दों में इधर लगातार कई दिनों से हमें सुनाई देने लगी थी। वह एक दिन सचमुच ही पलक मारते इम अभिशापग्रस्त अवनितल से सदा के लिए उठ गया ! वह देखते-देखते महाकाश में लीन हो गया और इस कोलाहलमय जगती से उसने परम निर्वाण पा लिया ! किन्तु हा दुर्दैव, कितनी क्रूरता—कैसी निर्ममता—के साथ तूने अपना वह विधान पूरा किया ! किस प्रकार युग-युगान्त तक के लिए हमें रुलाकर—कैसा अतल-स्पर्शी घाव हमारी छाती में कुरेदकर—तूने अपना वह कार्य पूरा किया !

हृदय फटने लगता है और लेखनी रो-सी पड़ती है उस दुर्घट घटना का वर्णन यहाँ करते हुए ! वह कलंकमयी अभागी संध्या—३० जनवरी, सन् १९४८ ई०, की वह अशुभ संध्या—जिसने कि इस युग के भारत के उस ज्वाज्वल्यमान सूर्य को सदा के

लिए अपने अंचल में समेट लिया ! क्या भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन की दुर्भाग्य-वेला के बाद ऐसी घोर निशा का यवनिकापात करनेवाली दूसरी कोई सध्या पिछले पाँच हजार वर्षों में कभी इस देश के इतिहास में इस बीच आई थी ? इस भीषण संध्या ने तो अभी-अभी हमारे ललाट पर पुन: चमक उठनेवाली भाग्य-रेखाओं को सदियो के लिए फिर से मानों मेट डाला ! उसने उस पर पोत दिया विजय-तिलक की मांगलिक कुमकुम-रोरी के बदले कलक का वह काला काजल, जिसे स्वयं काल की उँगलियाँ भी संभवत: अब नही पोंछ पाएगी ! क्योंकि यही तो थी वह महापातकी संध्या, जिसकी कि छाया में भारत-माता की कोख को लजानेवाले एक नरपशु ने राक्षसों को भी शर्मिन्दा कर देने-वाला वह जघन्य कृत्य कर डाला, जिसने कि दुनिया के सामने मुँह तक दिखाने योग्य हमें न रक्खा ! यही तो थी वह अशुभ घड़ी, जब कि उस कुटिल कपूत ने अस्सी वर्ष के अपने उस वयोवृद्ध राष्ट्र-पिता को, हमारे पूज्य 'बापू' को—जो कि सत्य के साक्षात् अवतार, अहिसा की सजीव मूर्ति और मानवता की जीती-जागती प्रतिमा-से थे—अपनी हिमा का निशाना बनाकर पलक मारते सारे राष्ट्र को एकदम अनाथ कर दिया····! इस कटु घटना का हम यहाँ विवरण दे तो कैसे दे ?

महानिर्वाण का वह प्रहर

उस दिन भी वह आए थे नित्य ही की तरह उसी प्रकार अपनी पौत्री और पौत्रवधू मनु तथा आभा के कधों पर हाथ धरे ! उसी प्रकार घुटनो तक का अपना वह लँगोटीनुमा अँगोछा वह पहने हुए थे और बदन पर खद्दर की वही सफेद चादर ओढे हुए थे । वह 'बिड़ला-भवन' के अपने कक्ष से निकलकर समीप के उस खुले प्रार्थनास्थल के मैदान में रोज की तरह ही आए थे, जहाँ कि नित्य ही उनके मुखारविन्द से झड़नेवाले अमृत-बिन्दुओं को बटोरने के हेतु शान्ति के प्यासे मुमुक्षुजनों की एक छोटी-सी भीड़ पिछले कुछ महीनों से शाम को जुट जाया करती थी ! वस्तुत: आज उन्हें आने में थोड़ा-सा विलंब हो गया था । कारण, अभी-अभी तक सरदार वल्लभभाई से किसी गंभीर विषय पर वह बातचीत करते रहे थे ।

और तब जैसे ही प्रतिदिन की तरह शान्त स्थिर भीड़ के बीच से अपने निकलने के लिए बनाए गए मार्ग से होते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर उस ऊँचे उठे हुए चबूतरे पर वह जा खडे हुए, जो कि प्रार्थना का वास्तविक स्थान था, और सबके अभिवादन के प्रत्युत्तर में उन्होंने दोनों हाथ उठाकर प्रणाम किया, वैसे ही बिजली की तरह तड़पकर एक अजनवी व्यक्ति भीड़ में से उनके सामने आ खड़ा हुआ और बिल्कुल नजदीक आकर अपनी जेब से पिस्तौल निकाल उसने तड़ातड़ तीन गोलियाँ बेतहाशा उन पर छोड़ दी ! क्षणभर ही मे महापुरुष गाधीजी का वह वृद्ध शरीर लटककर दोनों लड़कियो के कंधों पर अपना बोझ डालता हुआ पृथ्वी पर आ लगा और जहाँ वह गिरे वह जगह तथा उनकी चादर रक्त से भीग गई ! उनके मुख से केवल 'हे राम, हे राम' ये ही शब्द अतिम समय में निकलते सुनाई दिए ! इसके अतिरिक्त न तो कोई चीख निकली, न चेहरे पर क्षोभ या रोष की एक रेखा तक प्रकट होते दिखाई दी ! यह सारा काण्ड इस प्रकार पलक मारते हो गया कि उपस्थित भीड़ में से बहुतों को तो वस्तुत. अभी पता ही न लगा कि यह क्या से क्या हो गया था ! तुरन्त ही उठाकर उन्हें 'बिडला-भवन' ले जाया गया । किन्तु बापू ने एक बार जो अपनी वे आँखे मूँदी, तो फिर खोली ही नही—वह तो गोली लगने के कुछ मिनटों के भीतर ही सदा के लिए महा-निद्रा में लीन हो गए थे !

आँसू की नदियाँ

इसके बाद तो राष्ट्र के हृदय में भावना का जो तूफान उठा और जिस प्रकार न केवल इस महादेश ही की कोटि-कोटि जनता के रुँधे कण्ठों से प्रत्युत सारे ससार के कोने-कोने से हाहाकार का कभी भी न सुना गया ऐसा वह रोदनरव जगा, उस हृदयद्रावक कहानी से भला कौन आज परिचित न होगा ? घण्टे डेढ़ घण्टे के भीतर तो दुनिया भर में बिजली की लहर की भाँति इस महान् घटना की खबर दौड़ गई । इसके चौबीस घण्टे बाद ही यमुना के पुनीत तट पर राजघाट के विशाल मैदान मे वैदिक विधि से उनके शरीर की अत्येष्टि की वह कारुणिक रस्म भी पूरी हो गई । तब तक न केवल वहाँ प्रस्तुत दस लाख नर-नारियों की वह भीड़ ही प्रत्युत गाँव-गाँव और नगर-नगर में रोता-कलपता सारा देश आँसुओं की नदियाँ बहा चुका था !

तब एक बार फिर विषाद का वह सागर ज्वार की तरह उमड़ा, जब कि लगभग ४० लाख दर्शकों की

उपस्थिति में गंगा-यमुना के पवित्र संगम पर उनकी उन मुट्ठी भर अस्थियों को प्रवाहित कर दिया गया ! साथ ही देश की प्रत्येक पवित्र नदी में खास-खास तीर्थस्थलों पर भी उनकी वह भस्म विसर्जित की गई ! जब यह सारा तूफान कुछ ठंडा पड़ा, तब कही जाकर लोगों को यह पता चला कि उस मुट्ठी भर हड्डियों के ढाँचे के मिटने से कितना भारी गड्ढा इस राष्ट्र के वक्षःस्थल पर बन गया था !

किस प्रकार यह सब कुछ हो गया ? किस प्रकार कभी भी कल्पित न की जा सकनेवाली यह दारुण घटना घटित हो गई ? यद्यपि इस महाकाण्ड के कुछ दिन पहले ही, उनके द्वारा उठाई जा रही सहिष्णुता की नित्य की पुकार से रुष्ट होकर किसी के द्वारा उसी प्रार्थना-स्थल पर उनको लक्ष्य करके अभी-अभी एक बम भी फेका जा चुका था, जिससे कि बाल-बाल वह बचे थे ! फिर भी किसी को आशका ही नही होती थी कि सचमुच ही बापू पर कभी कोई ऐसा वार कर सकता है ! और इस प्रकार वार करनेवाला कोई 'हिन्दू' होगा, यह तो कभी सपने में भी किसी को खयाल नही था ! पर काल की गति का रहस्य कौन जानता है ? संभवतः उस परम पिता का यही निश्चित विधान रहा हो कि जो काम वह अपने जीवन द्वारा पूरा नही कर पाए, वही उनकी मृत्यु द्वारा ही परिपूर्ण कराया जाय !

प्राणों की बलि चढ़ाकर वह बन गए महाप्राण

उनकी वह मृत्यु क्या थी, मानो उनकी जीवन-व्यापी तपोसाधना की चरम सिद्धि वह थी ! वह तो मरकर भी, अपने हृदय की रक्तधारा का दान देकर भी, इस पृथ्वी पर एक ऐसी नूतन मन्दाकिनी की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर गए, जो कि आगामी हजारों वर्षों तक हिंसाजनित दावानल की लपटों को बुझाती रहेगी ! परन्तु जहाँ वह प्राणों की बलि चढ़ाकर बन गए महाप्राण, वहाँ हम उन्हें खोकर पहले से भी कितने अधिक कंगाल—कितने लघुप्राण—अब हो गए है ! आज एक कटु लज्जा और आत्मग्लानि का कीड़ा हमारे अंतस्तल को प्रति क्षण कुरेद रहा है। हम प्रति पल यही सोच-सोचकर अपना सिर धुन रहे हैं कि न जाने किस संचित पुण्य के प्रभाव से नन्दन-कानन के लिए भी दुर्लभ यह जो अनुपम अद्वितीय पारिजात-पुष्प हमारी राष्ट्र-वाटिका में खिला था, उसे नोंच डालने के कलंक का टीका क्या इसी धरती के एक पुत्र के सिर पर लगना बदा था ! आखिर इस जघन्य पाप का पहाड़ का-सा बोझ हम वहन करें, तो किस प्रकार ? क्योंकर इस कालिख को हम छुड़ाएँ, जिसे कि स्वय अपने ही हाथों अपने मुँह पर हमने पोत लिया है ? अथवा क्या इस महादण्ड के विधान में भी नियति की कोई गूढ योजना, कोई रहस्यपूर्ण उद्देश्य ही तो निहित नही है ? क्या इसका यही हेतु तो नही है कि इस प्रकार सदा के लिए हमारे हृदय में कभी भी न रुझनेवाला यह घाव पैदा होकर चिरकाल के लिए हमें हिंसा के आत्महननकारी पथ से मोड़ दे ? क्या इसीलिए तो यह पाप की गठरी हमारे कंधों पर नही लदी है कि युग-युग तक के लिए शान्ति के उस दूत के दिव्य सदेश का स्वर गुँजाए रखने के लिए हम एक निमित्त बन जाएँ ?

'सत्य' और 'अहिंसा'

तो फिर आइए, चिरजीवी ऋषि दधीचि की भाँति अपनी उन मुट्ठी भर हड्डियों को भी विश्व-कल्याण के हेतु उत्सर्गित कर देनेवाले इस प्रातः-स्मरणीय महापुरुष को शतशः प्रणाम कर, उसके दिव्य सदेश और उक्त संदेश में निहित बोधपाठ की किंचित् प्रसादी लेते हुए, उसकी इस लघु प्रशस्ति को अब समाप्त कर दें ! क्या है उसका वह महापाठ ? यदि पाणिनीय सूत्रों की-सी सूक्ष्म शब्दावली में उसे अभिव्यक्त किया जाय, तो गागर में सागर का सार लिए हुए उन दो चमत्कारपूर्ण शब्दों—'सत्य' और 'अहिसा'—द्वारा बहुत-कुछ सार्थकतापूर्वक उसका मर्म प्रकट किया जा सकता है, जो कि इस संत की जीवन-साधना की विशद धुरी के दो अटल ध्रुव-बिन्दुओं जैसे थे ! यही उसके जीवन के परम साध्य थे और यही थे उसके साधन भी ! इन्हीं दो परम सूत्रों में उसके दिव्य सदेश का सारा निचोड़ भरा पड़ा है।

मनुष्य को मनुष्य बनाने का महापाठ

यह 'सत्य' और 'अहिसा' का बोधपाठ क्या है ? यदि लाक्षणिक रूप में उसका भावार्थ हम प्रस्तुत करें, तो इस प्रकार हम उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं कि वह है केवल मनुष्य को अपने खोए हुए धर्म अर्थात् 'मनुष्यता' की भुलाई हुई पगडंडी पर फिर से ला खड़ा करने की एक पुकार—उसे आज की अपनी 'हैवान' की दशा से

ऊपर उठाकर सच्चा 'इंसान' बनाने का एक प्रयास ! वह है मानव द्वारा मानव के शोषण, पशुओं को भी लज्जित करनेवाले उसके पारस्परिक द्वन्द्व, उसके स्वार्थमूलक अर्थतन्त्र, अन्यायमूलक राजतन्त्र, भेद-भावमूलक समाजतन्त्र एवं इस सारे कुटिल विष-चक्र के स्वाभाविक परिणाम के रूप में निरतर इस पृथ्वी के आँगन में अपनी विभीषिका फैलाए रहने-वाली गरीबी, गुलामी, हिंसा, लड़ाई, अविद्या, पशुता और दानवता के विरुद्ध बुलन्द की गई विद्रोह की एक हुङ्कार ! यह वह पुकार है, जो कि युग-युगा-दिकाल से अपने महान् धर्म-शिक्षकों, कवियों, विचा-रकों, समाजसस्कारकों एवं मुक्तिसाधक सतों की वाणी के रूप में स्वयं मनुष्य ही के अन्तस्तल से निरन्तर उठकर इतिहास की धारा को बार-बार विनाश के अतल गर्त्त मे खो जाने से बचाती रही है !

उनकी आवाज कोई नई आवाज नहीं थी

अतः वह कोई बिल्कुल नई पुकार तो है नही। वह तो उसी अजरामर सदेश का पुनरावर्त्तन मात्र है, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यास, करुणा-वतार बुद्ध और तीर्थंकर महावीर, प्रेमयोगी ईसा और ज्ञानी सुकरात जैसे मनीषि अपने-अपने समय में हजारों वर्ष पूर्व ही निनादित कर चुके है ! हाँ, यदि कोई विशेषता उसमें है तो यही कि इस नए पैगम्बर ने आज की शब्दावली मे पिरोकर तथा हमारी वर्त्तमान उलझनों को सुलझाने के कार्य मे सफलतापूर्वक उसका प्रयोग करके एक ऐसे रूप में उसे हमारे सामने रख दिया कि इस भौतिकवादी युग में भी यदि हम चाहें तो उसे अपनाकर सहज ही अपने समस्त दुःख-दैन्य से छुटकारा पा पृथ्वी पर पुनः शान्ति का स्वर्ग प्रस्थापित कर सकते हैं।

और कितना सरल है उसका यह उपाय कि यदि घृणा, विद्वेष, हिंसा आदि के बजाय केवल प्रेम, सच्चाई, और किसी को भी दुःख न पहुँचाने की अहिसानीति को ही हम अपना ले, तो फिर अपने समस्त रोगों से हम छुटकारा पा सकते है ! किन्तु साथ ही कितना कठिन भी है वह, क्योकि उसके तो स्पष्ट अर्थ यह है कि हमें हिन्दू-मुसलमान, काले-गोरे, धनी-गरीब, कुलीन-शूद्र विषयक अपने समस्त भेदभावों को सदा के लिए भूल जाना चाहिए। हमें अपने उस जटिल अर्थतंत्र की इमारत को स्वतः अपने ही हाथों से तोड़ देना चाहिए, जिसकी कि नींव ही सबल द्वारा निर्बल के शोषण की नीति पर स्थापित है ! अपनी उस लिप्सा को हमें तिलांजलि दे देना चाहिए, जिसने कि धनी और गरीब, ऊँच और नीच, शासक और शासित की इन असख्य सीढ़ियों का सर्जन कर रक्खा है ! और साम्राज्यों के उन स्वप्नों को भी अपने मानसपटल पर से हमें मिटा डालना चाहिए, जो कि युद्ध और परमाणु-बम जैसी विनाश-सामग्री के जनक तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे को गुलाम बनाने की नीति के उद्गमस्रोत है। और यह सब-कुछ सिद्ध करना है हमे केवल प्रेम, सत्याचरण, अहिसा और त्याग द्वारा—लड़ाई-झगड़े द्वारा नही ! भला, आज की यह दुनिया क्योंकर इस आदर्श को स्वीकार करने लगी ?

मानव की मुक्ति का एकमात्र उपाय

इस सीधे-सादे उपाय की उपर्युक्त कठिनाई को देखकर ही तो कइयों के मन में गाधीजी की 'सत्य' और 'अहिसा' की इस पुकार की व्यावहा-रिकता के संबंध में प्रायः शंका का तूफान उठा करता था। किन्तु सेवाग्राम के उस सत को जब इसी एक दवा से एक के बाद एक हमने अपने असाध्य से असाध्य रोगो पर भी विजय पाते देखा, तो फिर उसकी सच्चाई और ऊँचाई में विश्वास किए बिना भी हम कैसे रह सकते है ? आखिर इसी एक उपाय द्वारा तो उसने चुटकी बजाते इस देश को अपनी राजनीतिक गुलामी की बेड़ियो से छुटकारा दिलाया। और यदि आज के अपने ताप-सताप की आँच से भी मुक्त होने की कोई राह हमें दिखाई पड़ती है तो सिवा इस सत के इसी प्रेम के नुस्खे को अपनाने के, जिसके कि हेतु उसने अपने प्राण तक दे दिए, वह औषधि और है क्या ?

वस्तुतः हमारे ही अपने देश की क्या, आज तो सारे विश्व की शांति का एकमात्र उपाय सेवाग्राम के उस तपस्वी द्वारा सूचित सत्य और अहिंसा का यह त्याग-मूलक पथ ही है ! उसी में मानवता के यथार्थ उद्धार की कुजी है; तोपों, बमो, हवाई जहाजों, कल-कार-खानों, पूँजीवादियों की थैलियों और साम्राज्यों की किलेबन्दियों में कदापि नही ! परन्तु इस उपाय के अपनाने में हमें मूल्य के रूप में चढ़ाना होगी अपनी आज की इस सारी तथाकथित यांत्रिक 'सभ्यता' की बलि ! हमें इसके लिए पिछले सौ-पचास साल के अपने दारुण कुपाठ को सर्वथा भूल जाना होगा, जैसा

कि इस महात्मा ने अपने निम्न चुनौतीभरे शब्दों में वर्षों पहले स्पष्ट रूप से निर्देश कर दिया था:—

'भारत की मुक्ति इसी में है कि पिछले पचास सालों में उसने जो कुछ सीखा है, उसे वह सर्वथा भूल जाय ! इन रेलों, तारों, अस्पतालों, वकीलों, डाक्टरों आदि सबको एकबारगी ही हमें तिलाञ्जलि दे देना चाहिए। इन सभी तथाकथित उच्च वर्ग के लोगों को धर्मभावनापूर्वक स्वत: अपनी ही इच्छा से किसानों के सरल जीवन का आदर्श अंगीकार कर लेना चाहिए, यह सोचते हुए कि सच्चा सुख उसी में है !'

यांत्रिक सभ्यता के लिए एक चुनौती

वस्तुत: गांधीजी का जीवन और संदेश सारे ससार के लिए वर्त्तमान यंत्रबद्ध भौतिक सभ्यता के विरुद्ध एक चुनौती-सा था—वह विपथगामी मानवता को थोथे सुख की मृगमरीचिका की ओर से हटाकर प्रकृति की सरल नैसर्गिक वाटिका में वापस लौटा ले चलने का एक ज्वलत प्रयास था ! इसी लिए तो नगरो की कालिख से भरी भूलभुलैया से किनारा कसकर, छोटे-छोटे गाँवों के मुक्त हरित आँगन में पलट चलने के लिए बार-बार आदेश देते वह कभी थकते नही थे। वह मिलों-कारखानो की इस गुलामी को ठुकराकर अपने उस सुदर्शन-चक्र रूपी चरखे के घरेलू यत्र ही को अपनाने का मंत्र लगातार जोरों से दुहराते रहते थे। उनका वह चरखा क्या था, मानो आधुनिक 'पूँजीवाद' और उसी के बड़े भाई 'साम्राज्यवाद' की मूल जड़ में कुठाराघात करनेवाला कुचले हुए वर्गों के विद्रोह का अमोघ नारायणास्त्र-सा था। वह था दीनो की लकुटिया-सा, अहिंसा और सत्य के प्रतीक-सा, और अनासक्त कर्मयोगमूलक एक आदर्श जीवन-प्रणाली के मूर्तिमान् लाक्षणिक तत्त्व-सा !

सच तो यह है कि गांधीजी के जीवन की एक-एक लीक मानव के अभ्युत्थान की विशद पगडडी के निर्माण का नक्शा लेकर ही सामने आई थी ! आज संसार में रूसी ढंग के 'साम्यवाद' का नारा बुलन्द किया जा रहा है, किन्तु मानव-मानव के बीच साम्यभाव की स्थापना का जैसा ज्वलन्त आदर्श लेकर दरिद्रनारायणों का यह प्रतिनिधि उठा था, उसकी समानता का उदाहरण उस पाश्चात्य साम्यवाद मे भला कहाँ है ? इस महापुरुष ने तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुरातन भारतीय आदर्श को मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्णतया अपने जीवन मे चित्रित कर, अपने आपको विश्व भर के पददलित वर्गों का सच्चा दीनबन्धु बना लिया था। वह तो मानो विश्व के परित्राण के लिए हलाहल का पान करनेवाले नीलकंठ शकर की तरह पुकार-पुकारकर यह कहता रहता था कि 'ममेति पर दु:खं न ममेति परं सुखम्'। वह संसार भर के दानव-रूपी मानवों के द्वारा भड़काई हुई विद्वेष की अग्नि-ज्वालाओं को स्वय पीकर, पृथ्वी पर चिरकाल के लिए शान्ति की शीतल चाँदनी का वितान छा देने को इस प्रकार आतुर था जैसे कि कवि सौन्दर्य को, दार्शनिक सत्य को और संत कल्याण को इस विश्व के आँगन में बिखरा हुआ देखने को रहता है ! भला उस महात्मा से बडा क्रान्तिकारी 'साम्यवादी' दूसरा इस युग में हुआ ही कौन ?

वह तो केवल एक क्रान्तिकारी ही नही, महान् क्रान्तदर्शी भी था, और था ऐसा एक महामानव, जो कि ईश्वर के सबसे नजदीक पहुँचा हुआ व्यक्ति था ! तभी तो गोखले जैसे रत्नपारखी के मुख से वर्षों पहले ही ये शब्द निकलते सुनाई दिए थे कि 'गांधीजी से अधिक पवित्र, शूरवीर और उन्नत व्यक्ति तो कभी इस पृथ्वी पर दूसरा अवतीर्ण हुआ ही नही !' और तो और, आइन्स्टाइन जैसे विज्ञानाचार्य के मुख से भी ये अद्भुत वाक्य निकलते हमें सुनाई दिए है कि 'आनेवाली पीढियाँ शायद ही इस बात पर विश्वास कर सकेंगी कि रक्त-मांस से युक्त शरीर धारण किए हुए ऐसा एक मानव सच ही कभी इस पृथ्वी पर विचरा भी था !'

वामन के कलेवर में विराट्

तो फिर क्या आश्चर्य है यदि गाधीजी का नाम लेते ही सहज ही हमारे मन में पुन: विद्युत् की लहर की-सी वह एक सनसनी-सी दौड़ जाती है और हम बार-बार विस्मयपूर्वक हक्का-बक्का-से होकर सोचने लगते है कि वह डेढ़ पसलियों का अस्थि का ढाँचा अपने भीतर जिस गौरीशकर की-सी ऊँचाई को लिये हुए एक दिग्गज देवोपम व्यक्तित्व को बसाए हुए था, उसे केवल एक नरतनधारी साधारण प्राणी क्योंकर कहा जा सकता था ? निश्चय ही बापू, तुम वामन के कलेवर में छिपे हुए विराट् थे ! तुम युगावतार थे ! कवि के शब्दो मे तुम सच ही 'मांसहीन,' 'रक्तहीन,' 'अस्थिहीन,' 'शुद्ध बुद्ध केवल आत्मा' थे ! हम तुम्हें पाकर धन्य हुए ! हम ही नही, सारा संसार कृतार्थ हुआ ! तुम्हें हमारा शतश: प्रणाम है !